* श्रीगौराङ्गविधुर्जयति *

कृष्ण-मन्त्र हैते हय संसार मोचन ।
कृष्णनाम हैते पावे कृष्णेर-चरण ॥
नाम बिनु कलिकाले नाहि आर धर्म ।
सर्व मन्त्र.सार नाम एई शास्त्र मर्म ॥

ब्रजप्रेम-भक्ति
वैष्णव-दर्शन
भगवद्-लीला
भक्त-चरित्रों
से
परिपूर्ण—
त्रैमासिक

जनवरी १९७३
वर्ष—३
अंक—२

श्रीहरिनाम सङ्कीर्त्तन मण्डल (रजि०)
श्रीधाम-वृन्दावन

प्रकाशन तिथि—

१० अप्रेल १९७३

परामर्श-परिषद्—

श्री गौरकृष्ण गोस्वामी, शास्त्री, काव्य-पुराण-दर्शन तीर्थ
श्री नृसिंहवल्लभ गोस्वामी, वेदान्त-शास्त्री
श्री विश्वम्भर गोस्वामी, एम. ए., एल. एल. बी.
डा० अवधबिहारी लाल कपूर, एम. ए., डी. फिल.

सम्पादक—

श्रीश्यामलाल हकीम

प्रकाशक—

श्रीहरिनाम सङ्कीर्त्तन मण्डल, श्रीधाम-वृन्दावन।

प्रथम संस्करण—

५०० प्रतियां

मुद्रक—

श्री हरिनाम प्रेस, बाग बुन्देला, श्रीधाम-वृन्दावन।

वार्षिक मूल्य ५.०० रु०
एक प्रति १.५० रु०

कहाँ क्या है ?

आपका वार्षिक चन्दा

वास्तव में आपका "श्रीहरिनाम" का वार्षिक चन्दा—'श्रीहरिनाम' का मूल्य नहीं है। हम उसे एक दान समझते हैं, जिसके द्वारा अनेक जीवों को पारमार्थिक साहित्य अध्ययन कर भक्तिपथ में प्रवेश करने का सुअवसर प्राप्त हो रहा है। अतः इस पत्रिका के माध्यम से आप अपना सहयोग जारी रखें—यही हमारी करबद्ध प्रार्थना है।

जिन महानुभावों ने तीसरे वर्ष का चन्दा अभी तक भी नहीं भेजा है, वे अति शीघ्र भेजने की कृपा करें। प्रथम अंक में इसीलिए एक मनिआर्डर फार्म भी संलग्न किया जा चुका है। उसे प्रयोग करें।

—"सम्पादक"

फार्म-४ [रूल-८ द्रष्टव्य]

१—प्रकाशन का स्थान	श्रीधाम वृन्दावन
२—प्रकाशन का समय	त्रैमासिक
३—मुद्रक का नाम	श्री श्यामलाल हकीम
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	श्रीहरिनाम प्रेस, श्रीधाम वृन्दावन
४—प्रकाशक का नाम	श्रीहरिनाम सङ्कीर्त्तन मण्डल (रजि०)
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	बाग बुन्देला, श्रीधाम वृन्दावन
५—सम्पादक का नाम	श्री श्यामलाल हकीम
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	बाग बुन्देला, श्रीधाम वृन्दावन
६—पत्र के मालिक का नाम	श्रीहरिनाम सङ्कीर्त्तन मण्डल (रजि०)

मैं श्यामलाल हकीम घोषित करता हूं कि उपर्युक्त विवरण मेरे ज्ञान और विश्वास के अनुरूप सही है।

दिनाङ्क १०-४-७३

ह० श्यामलाल हकीम
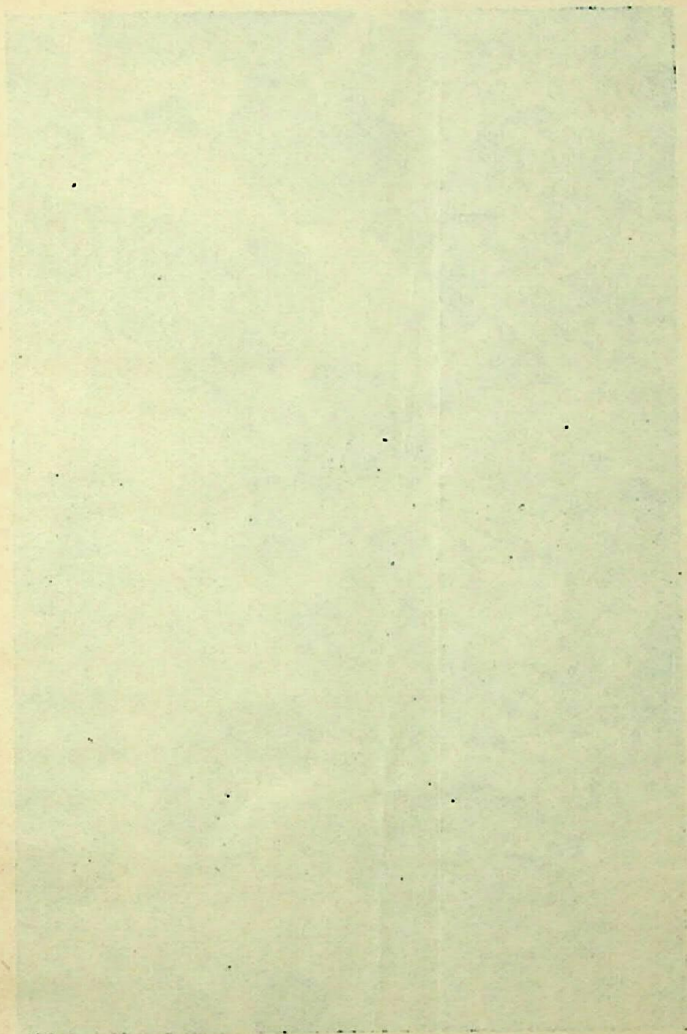
ग्यारहवां वार्षिक
श्रीहरिनाम सङ्कीर्त्तन सम्मेलन दिग्दर्शन
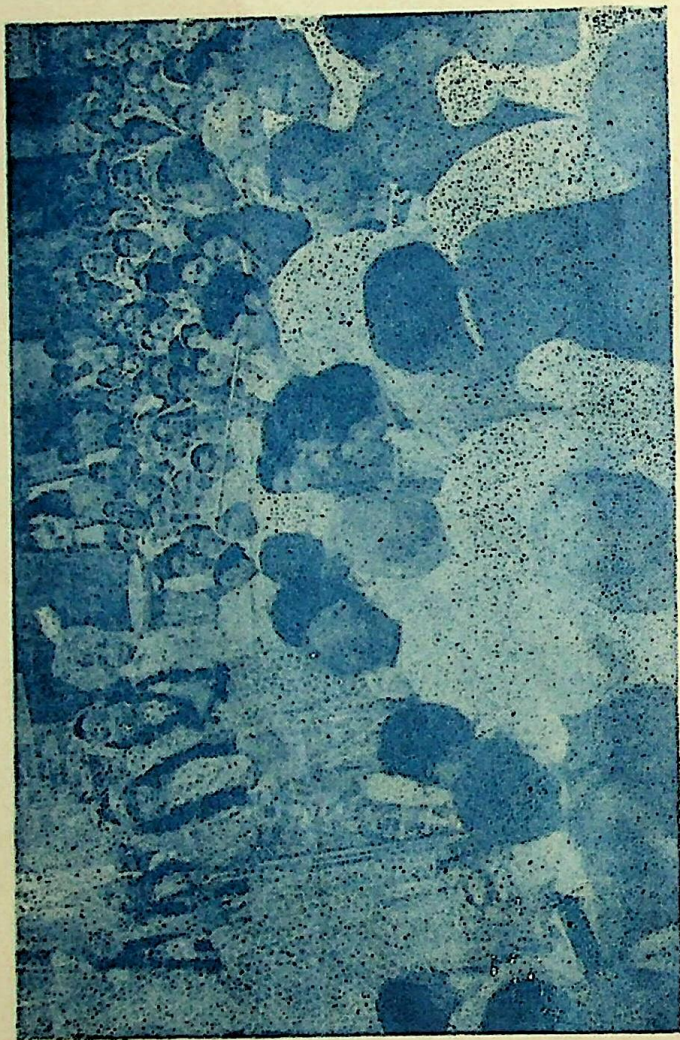
"रास रस विभोर असंख्य भक्तगण"

॥ श्री श्रीगौराङ्गविधुर्जयति ॥

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ।
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे ॥

योग-श्रुत्युपपत्ति-निर्जनवन-ध्यानाध्व-सम्भावित-
स्वराज्यं प्रतिपद्य निर्भयममी मुक्ता भवन्तु द्विजाः ।
अस्माकं तु कदम्ब कुञ्जकुहर- प्रोन्मीलदिन्दीवर-
श्रेणी-श्यामलधाम नाम जुषतां जन्मास्तु लक्षावधि ॥ *

वर्ष ३ } गौराङ्गाब्द—४८६, अप्रेल—१९७३ { अंक ३

यदुवंश-यश चन्द्रमा, व्रजगोपिन चित्त चोर ।
गोपीवल्लभ कृष्ण हरि, कन्हवा माखन-चोर ॥
व्रजवल्लभ कालियदमन, नन्दवंश-यश-भानु ।
व्रज-भानु व्रज-चन्द्रमा, व्रज-रक्षक भगवान ॥

—श्रीनामसङ्कीर्त्तन

* ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य आदि द्विजातिगण अष्टांग योग, वेदानुशीलन, निर्जन वन में वास करते हुए एवं तीर्थाटन व ध्यान द्वारा प्राप्त होने वाले निर्भयरूप स्वरूपानुभव को प्राप्त करके अर्थात् ब्रह्मसाक्षात्कार करके यदि मुक्त हो जाते हैं, तो हो जाएं; परन्तु कदम्ब कुञ्ज-कुहर से उदित होने वाले तथा नीलकमल श्रेणी सदृश श्रीश्यामसुन्दर के नामामृत का पान करने वाले हमको तो लाखों जन्म प्राप्त हों—यही हमारी प्रार्थना है—श्रीनामामृत पान करते हुए हम लाखों जन्मों को मुक्ति से कहीं अच्छा मानते हैं ।

❋ श्रीश्री नवयुवराजाय नमः ❋

परम पूज्यपाद श्रीरघुनाथदास गोस्वामि विरचित

श्री श्री नवयुवद्वन्द्व-दिदृक्षाष्टकम्

स्फुरदमलमधूली— पूर्णराजीवराज—
न्नवमृगमदगन्ध- द्रोहि- दिव्याङ्ग- गन्धम् ।
मिथ इत उदितेरुन्मादितान्तर्विघूर्णद्
व्रजभुवि नवयनोर्द्वन्द्वरत्नं दिदृक्षे ॥१॥

जो अपने श्री अंगों की दिव्यगन्ध से निर्मल मकरन्द भरे कमलों के सहित कस्तूरी की सौरभ को पराजित करने वाले हैं एवं जिनके मन एक दूसरे को चञ्चल एवं उन्मादित कर रहे हैं,—श्रीवृन्दावन में ऐसे श्रीनवयुवक-किशोर-मणि श्री श्री राधा-कृष्ण के दर्शन की मैं अभिलाषा करता हूँ ॥१॥

कनकगिरि- खलोद्यत्- केतकीपुष्पदोव्य—
न्नवजलधर- मालाद्वेषि- दिव्योरु- कान्त्या ।
शवलमिव विनोदैरीक्षयत् स्वं मिथस्तद्
व्रजभुवि नवयूनोर्द्वन्द्वरत्नं दिदृक्षे ॥२॥

सुमेरू पर्वत पर उत्पन्न केतकी पुष्पमाला के साथ यदि नवीन मेघवृन्द क्रीड़ा करें तो उस शोभा को भी जिनकी दिव्य गौर-श्याम-कान्ति निन्दित करने वाली है, जो क्रीड़ा-आमोद में परस्पर मिले हुए की भांति एक दूसरे को अवलोकन कर रहे हैं—श्रीवृन्दावन में ऐसे नव-युगलकिशोर-मणि श्री श्री श्यामाश्याम के दर्शनों की मन में अभिलाषा है ॥२॥

निरुपम- नवगौरी- नव्य कन्दर्पकोटि—
प्रथित-मधुरिमोर्म्मि- क्षालित- श्रीनखान्तम् ।
नव- नव रुचिरागैर्हृष्टमिष्टैर्मिथस्तद्
व्रजभुवि नवयूनोर्द्वन्द्वरत्नं दिदृक्षे ॥३॥

जिनके श्रीनखान्त अनुपम नवीन गोरी तथा नवीन कोटि कामदेव की सुप्रथित मधुरिमा-कान्ति से पखारे गए हैं, जो परस्पर नव-नव रमणीय रुचि-अनुराग समूह से अपने हृदय में आनन्द विभोर हो रहे हैं—श्रीवृन्दावन में ऐसे नवयुगलकिशोर-मणि श्री श्री प्रिया-प्रीतम के दर्शनों की मुझे चाहना है ॥३॥

मदन- रस विघूर्णन्नेत्र- पद्मान्त- नृत्यैः
परिकलित- मुखेन्दु ह्रीविनम्रं मिथोऽल्पैः।
अपि च मधुरवाचं श्रोतुमावर्द्धिताशं
व्रजभुवि नवयूनोर्द्वन्द्वरत्नं दिदृक्षे ॥४॥

दिव्य कन्दर्प-रसवश विघूर्णित नेत्रकमलों के जरा से कटाक्ष-नृत्य से जिनके मुखचन्द्र लज्जायुक्त होकर रमणीय विनम्र भाव को प्राप्त हो रहे हैं और एक दूसरे की मधुर-वाणी सुनने के लिए जिनकी आकांक्षा बढ़ रही है--ऐसे श्री वृन्दावन में ऐसे नव युगलकिशोर-मणि श्री श्री मोहिनी-मोहन के दर्शनों के लिए मेरे नेत्र व्याकुल हो रहे हैं ॥४॥

स्मर- समर विलासोद्गारमङ्गेषु रङ्गै
स्मित- नव- सखीषु प्रेक्षमाणासु भङ्ग्या।
स्मित- मधुर- दृगन्तै र्ह्रीणसंफुल्ल-वक्त्रं
व्रजभुवि नवयनोर्द्वन्द्वरत्नं दिदृक्षे ॥५॥

जिनके श्री अङ्गों पर नव-सखीगण आनन्दपूर्वक स्मर-विलास-चिह्नों को देखकर परस्पर सुमधुर मुसकान युक्त कटाक्ष सञ्चार करती हैं और उससे जिनके मुखकमल लज्जायुक्त तथा प्रफुल्लित हो उठते हैं—श्रीवृन्दावन में ऐसे नव युवलकिशोर-मणि श्री श्री राधा-गोविन्द के दर्शनों की मुझे तीव्र इच्छा है ॥५॥

मदन- समरचर्याचार्यमापूर्ण- पुण्य—
प्रसर- नववधूभिः प्रार्थ्य- पादानुचर्यम्
समररसिक मेकप्राण मन्योऽन्य- भूषं
व्रजभुवि नवयूनोर्द्वन्द्वरत्नं दिदृक्षे ॥६॥

जो कन्दर्प-स्मरकला के आचार्य हैं, परस्पर एक-मन, एक-प्राण हैं एवं एक ही समान स्मर-रसिक हैं, जो एक दूसरे के भूषण-स्वरूप हैं, पूर्ण पुण्यपुञ्जवती नवसखीवृन्द जिनके चरणकमलों की सेवा की प्रार्थना करती रहती हैं—श्रीवृन्दावन में ऐसे नव युगलकिशोर-मणि श्री श्री राधा-श्यामसुन्दर के दर्शनों के लिए मेरा मन व्याकुल हो रहा है ॥६॥

तटमधुर- कुञ्जे निश्रान्तयोः श्रीसरस्याः
प्रचुरजलविहारैः स्निग्धवृन्दै सखीनाम्।
उपहृत मधुरङ्गैः पाययत्तन्मिथस्तै—
व्रजभुवि नवयूनोर्द्वन्द्वरत्नं दिदृक्षे ॥७॥

श्रीराधाकुण्ड में सुप्रचुर जल-विहार करने से जो थककर तटवर्त्ती निकुञ्ज में विराजमान हैं एवं अति स्निग्धा सखीवृन्द द्वारा संगृहीत मधु को जो एक दूसरे को पान करा रहे हैं—श्रीवृन्दावन में ऐसे नव युगलकिशोर-मणि श्री श्री निकुञ्ज विहारिणी-बिहारी के दर्शनों के लिए मेरा मन आतुर हो रहा है ।।७।।

कुसुमशर- रसौघ- ग्रन्थिभिः प्रेमदाम्ना
मिथ इह वृत्तया प्रौढ़याद्धा निबद्धम् ।
अखिल- जगति- राधामाधवाख्या- प्रसिद्धं
ब्रजभुवि नवयूनोर्द्वन्द्वरत्नं दिदृक्षे ।।८।।

प्रेम डोरी द्वारा कन्दर्प-रससमूह ग्रन्थियों में एक दूसरे के वशीभूत हुए जिनको रसिकाचार्यों ने बांधा है और निखिल जगत् में जो श्री श्री राधा-माधव नाम से प्रसिद्ध हैं, श्री वृन्दावन में ऐसे नव युगलकिशोर-मणि श्री श्री ललित-विहारिणी-बिहारी के दर्शनों के लिए मेरा मर्म व्याकुल हो रहा है ।।८।।

प्रणय- मधुरमुच्चै- र्नव्ययूनोर्दिदृक्षा—
ष्टकमिदमतियत्नाद् यः पठेत् स्फार-दैन्यैः ।
स खलु परमशोभा-पुञ्ज- मञ्जु प्रकामं
युगलमतुलमक्ष्णोः सेव्यमारात् करोति ।।९।।

इस श्री श्री नवयुवद्वन्द्व-दिदृक्षाष्टक को अतिशय सुमधुर प्रीति सहित जो भी साधक दीनता एवं आर्त्तिपूर्वक पाठ करेगा, वह निश्चय ही परम शोभा-पुञ्ज, मञ्जु-मनोहर, अतुल युगलमणि श्री श्री वृषभानुनन्दिनी-नन्दनन्दन के अपने नेत्रों से दर्शन प्राप्त करेगा ।।९।।

श्री ब्रजमण्डल-दर्शन

श्रीगोपाल चन्द्र घोष

[पूर्वाङ्क से आगे]

[पूर्वाङ्क-वर्णित बारह वनों के साथ कुल अड़तालीस वन, उपवन, एवं अधिवनों का वर्णन पुराणों में मिलता है। परन्तु आज के युग में इन सबका परिचय मिलना असम्भव सा लगता है। अनेक वन ग्रामों एवं नगरों में परिणत हो चुके हैं अनेकों के नाम बदल गए हैं एवं अनेकों का अनुसन्धान मिलना सम्भव पर नहीं है। फिर भी इस स्तम्भ में ब्रज मण्डल की चौरासी कोशी परिक्रमा के क्रम से इनका यथा स्थान यथा सम्भव संक्षिप्त परिचय दिया जाएगा। इनके साथ साथ परिक्रमा में आने वाले समस्त लीला स्थानों, कुण्ड-सरोवरों तथा दर्शनीय देवालय आदिकों का भी संक्षिप्त क्रमशः परिचय उद्घृत किया जायगा।

पूर्वांकों में बारह वनों का संक्षिप्त विवरण दिया जा चुका है। बारह वनों के बाद बारह उपवनों का, बारह प्रतिबनों तथा बारह अधिवनों का वर्णन पुराणों में मिलता है।

वराह पुराण में वर्णित बारह उपवनों के नाम इस प्रकार हैं—

१-ब्रह्मवन, २-अप्सरावन, ३-विह्वलवन, ४-कदम्बवन, ५-स्वर्णवन, ६-सुरभीवन, ७-प्रेमवन, ८-मयूरवन, ९-मानेंगित वन, १०-शेष-शायीवन, ११-नारद वन तथा १२-परमानन्द वन।

भविष्यपुराण में बारह प्रतिवनों के नाम इस प्रकार हैं—

१-रंकवन, २-वार्तावन, ३-करहाबन, ४-कामवन, ६-अन्जनवन, ६-कर्णवन, ७-कृष्णक्षिपन वन, ८-नन्दप्रेक्षण कृष्णवन, ९-इन्द्रवन, १०-शिक्षावन, ११-चन्द्रावलीवन तथा १२-लोहवन।

विष्णुपुराण में बारह अधिवनों के नाम इस प्रकार वर्णन किए गए हैं—

१-मथुरा, २-राधाकुण्ड, ३-नन्दग्राम, ४-गड़, ५-ललिताग्राम, ६-वृषभानुपुर, ७-गोकुल, ७-बलदेववन, ९-गोवर्धन, १०-यावबट, ११-वृन्दावन तथा १२-संकेतवन।

१. मधुवन—यह वन मथुरा से अढ़ाई मील पश्चिम-दक्षिण की ओर अवस्थित है। ग्राम के पूरब में ध्रुवटीला है जहां श्रीध्रुवजी को प्रतिमूर्त्ति है। यहां ही श्रीध्रुवजी ने तपस्या की थी। गांव की पश्चिम-दक्षिण दिशा में मधुकुण्ड हैं जहां श्रीकृष्ण-बलराम गौ चराते हुए आकर गौओं को पानी पिलाते थे। मधु-दानव का श्रीकृष्ण ने यहां वध किया था। यहां श्रीमधुवन-विहारीजी तथा श्रीवलरामजी के अति सुन्दर दर्शन हैं। वर्त्तमान कालमें इसका नाम "महली" है।

२. तालवन—मधुवन से दो मील की दूरी पर है। आजकल यह "तासी" नाम से प्रसिद्ध है। यहां श्रीवलरामजी ने धेनुकासुर का वध किया था। (अंक ३–१ में इसका विवरण दिया जा चुका है)

३. कुमुदवन—यह स्थान तालवन से दो मील पश्चिम की ओर है। यहां कुमुद-कुण्ड तथा श्रीकपिलदेव का मन्दिर दर्शनीय स्थान है। (अंक ३–१ द्रष्टव्य)

४. शान्तनुकुण्ड—यह अब "साँतोया" नाम से प्रसिद्ध है। मथुरा से अढाई मील पश्चिम में स्थित है। इस स्थान पर श्रीशान्तनु राजा ने पुत्र की कामना से श्रीसूर्यदेव की आराधना की थी। कुण्ड में श्रीसूर्यदेव का मन्दिर है एवं वहाँ श्रीविहारीजी भी विराजमान है। भाद्र-षष्ठी एवं रविवार की सप्तमी तिथियों में इस कुण्ड में स्नान का अधिक माहात्म्य है।

५. बहुलाबन—यह अब 'वाटी' नाम से प्रसिद्ध है। शान्तनुकुण्ड से उत्तर दिशा में चार मील की दूरी पर स्थित है। ग्राम के उत्तर में बहुलाकुण्ड है। इस कुण्ड के उत्तर अंश को "श्रीकृष्णकुण्ड" भी कहा जाता है। कुण्ड के उत्तर तीर पर श्रीवल्लभाचार्यजी की बैठक है। कुण्ड के दक्षिण तीर पर बहुला-गौओं का स्थान है। ग्राम के पूरब में श्रीवलराम कुण्ड है। ग्राम के एक मील दक्षिण में मानसरोवर है, जिसे अब "खाड़ियां" कहते हैं। ग्राम से सरोवर पर जाने के रास्ते में एक नीम वृक्ष के नीचे अति प्राचीन पंचानन-महादेवजी का मन्दिर है। गांव

में श्रीलक्ष्मीनारायणजी का मन्दिर है एवं गांव की पश्चिम दिशा में श्रीवलराम कुण्ड है। फिर कुछ दूरी पर श्रीबलदेव-विग्रह के दर्शन भी हैं।

६. मघेरा—राल गांव से डेढ़मील की पर दूरी पूरव-उत्तर दिशा में और बहुलावन से दो मील उत्तर में है। श्रीअक्रूरजी जब श्रीकृष्ण बलराम को मथूरा ले जा रहे थे, तब इसी स्थान पर सब व्रजवासी श्रीकृष्ण को न देखकर मूच्छित हो गए थे।

७. जैत—मघेरा से सवा मील की दूरी पर पूरब-उत्तर दिशा में अवस्थित है। अघासुर के वध करने के बाद इसी स्थान पर देवताओं ने जय-जय ध्वनि करते हुए श्रीकृष्ण पर पुष्प-वर्षा की थी।

८. सटीघरा—इसे अब 'छटीकरा' कहते हैं। जैत से दो मील पूरव-दक्षिण में है और मथुरा से चार मील उत्तर-पश्चिम में अवस्थित है। श्रीकृष्ण के यमलार्जुन तोड़ने के बाद श्रीनन्दराज महावन (गोकुल) को त्यागकर कुछ दिन यहां आकर रहे थे। उसके वाद, श्रीनन्दग्राम आकर वसे थे। इसके पूरब में श्रीगरुड़-गोविन्द स्थान है। जहां श्रीदाम को गरुड़ बनाकर श्रीकृष्ण नाराणय वन-कर उसकी पीठ पर विराजमान हुए थे।

९. मयूरग्राम—आजकल 'मरो' नाम से प्रसिद्ध है। वहुलावन से दो मील पश्चिम-दक्षिण दिशा में हैं। एक समय श्रीकृष्ण श्रीराधाजी से यहां मिलित हुए। इनकी छबि देखकर इनके चारों ओर मोर इकट्ठे होगए और पंख फैलाकर नाचने लगे। तभी से इसका नाम 'मयूर-ग्राम' पड़ गया।

१०. दतिहा—इस स्थान पर श्रीकृष्ण ने दन्त-वक्र का वध किया था। मरोग्राम से सवा मील पूरब-दक्षिण कोण में यह अवस्थित है। दन्तवक्र का वध करने के बाद इसी स्थान पर श्रीकृष्ण यमुना के पार जाकर गरुई नाम गांव में श्रीनन्दराज से मिले थे। महावन से चार मील पूरब-उत्तर में और लौहवन से पांच मील पूरब-दक्षिण में 'खेडी' नाम का जो गांव है इसका प्राचीन नाम 'गोरवाई' व 'गोराई' व 'गरुई' था। गरुई से आधे मील पर उत्तर में जो अलिपुर नाम का गांव है इसका प्राचीन नाम है—'आयोरे'। श्रीकृष्ण के लौटकर व्रज में आने पर सव व्रजवासी—"आयो रे, आयो रे" कहकर यहां उनसे मिले थे। गरुई और आयोरे गांव से सवा मील पूर्वदिशा में 'कृष्णपुर' है। कोई कोई इसे 'गोपालपुर' भी कहते हैं। अनेक दीर्घकाल के विरह के बाद व्रजवासी लोग श्रीकृष्ण-बलराम को इसी स्थान पर मिले और अनेक प्रकार से आनन्द महोत्सव किया था।

११. आरिंग—दतिहा से पांच मील पश्चिम में और श्रीगोवर्धन से चार मील पूरब में श्रीबलदेवजी का स्थान है। ग्राम के उत्तर पश्चिम में एक किल्लोल

नाम कुण्ड है। कुण्ड के पूरब में और ग्राम के उत्तर में श्रीबलदेवजी का श्रीविग्रह है जो दर्शनीय है। श्रीवल्लभाचार्य के मत्तसे श्रीकृष्ण ने आग्रह पूर्वक गोपिकाओं से यहां दान लिया था।

१२. माधुरीकुण्ड—आरिंग से दो मील दूरी पर पूरब-दक्षिण की ओर अवस्थित है।

१३. जखीन गांव—आरिंग से अढ़ाई मील उत्तर में यह गांव अवस्थित है। यहां श्रीरेवतीजी तथा श्रीबलदेवजी के दर्शन हैं। बलभद्रकुण्ड तथा रेणुका कुण्ड दर्शनीय स्थान हैं। यहां श्रीराधाजी ने दाक्षिण्य भाव ग्रहण किया था। इसलिए इसे कोई कोई 'दक्षिण' ग्राम भी कहते हैं।

१४. तोष—जखीन गांव से दो मील पूरब-उत्तर कोण में अवस्थित है। श्रीकृष्ण-बलराम का यह तोष-स्थान है अर्थात् नृत्य गीत शिक्षा का स्थान है। यहां तोषण कुण्ड दर्शनीय है।

१५. वसती—तोष से दो मील पश्चिम उत्तर में 'जनती' नाम का गांव है। जनती से सवा मील पश्चिम में "वसती" है। जब श्रीव्रजराज नन्द महाराज महावन को छोड़कर छटीकरा में आकर वसे, तब श्रीवृषभानुजी रावल को छोड़कर यहां आकर कुछ दिन रहे थे। इससे छः मील पूरब में छटीकरा ग्राम है। फिर श्रीनन्दमहाराज तो नन्दीश्वर नन्दग्राम में आकर स्थायी रूप में वस गए और श्रीवृषभानुजी वरसाने में। वसती से श्रीनन्दग्राम व वरसाना छःमील उत्तर दक्षिण में अवस्थित हैं।

१६. मुखराई—वसती से दो मील पश्चिम दक्षिण की ओर और राधा कुण्ड से सवा मील दक्षिण में अवस्थित है। मुखरा देवी श्रीराधारानी की नानी है। यह ग्राम उनके नाम से प्रसिद्ध है। यहां श्रीकृष्ण कुण्ड व वाद्यशिला दर्शनीय हैं।

क्रमशः

—***—

"श्रीवृन्दावन के रूख"

श्रीवृन्दावन के रूख हमारे मात-पिता सुत-बन्धु।
गुरु-गोविन्द साधु गति-मति सुख, फल फूलन को गन्ध॥
इनहिं पीठि दै अनत दीठि करै सो अन्धनि में अन्ध।
'व्यास' इन्हें छोड़ै रु छुड़ावै ताको परै निकन्ध॥

—श्रीव्यासवाणी

६१-रसिकों के साथ श्रीभागवतके अर्थों का आस्वादन

कृष्णभक्ति के सर्वश्रेष्ठ पांच अङ्गों में दूसरा अङ्ग है—रसिक भक्तों के साथ बैठकर श्रीकृष्ण-स्वरूप श्रीमद्भागवत महापुराण के अर्थों का आस्वादन करना, अर्थात श्रीमद्भागवत का अध्ययन, श्रवणादि करना। श्रीमद् भागवत के सम्बन्ध में श्रीमन्महाप्रभु ने कहा है:—

कृष्ण भक्ति-रस स्वरूप श्रीभागवत। ताते वेदशास्त्र हैते परम महत्त्व॥

श्रीचैतन्यचरितामृत २-२५-११

—श्रीमद् भागवत कृष्ण-भक्ति-रसस्वरूप है, इसलिए वेदादि शास्त्रों से भी इसका परम महत्त्व है। और भी कहा है—

निगम कल्पतरोर्गलितं फलं शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम्।
पिवत भागवतं रसमालयं मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः॥

श्रीमद्भागवत १-१-३

—यह श्रीमद्भागवत धर्म, अर्थ, काम, मोक्षादि समस्त पुरुषार्थों के देने वाले वेदरूप कल्पवृक्ष का फल स्वरूप है। यह श्रीशुक के मुख से पृथ्वी पर गिरा है—अर्थात् अवतीर्ण हुआ है। इसलिए रस-विशेषमय भावना में चतुर रसज्ञ व्यक्ति-गण इस परमानन्द-रसमय फल को मोक्ष पर्यन्त बारम्बार पान करें।

तात्पर्य यह है कि वेदादि-शास्त्र मानो एक कल्पवृक्ष है। जैसे कल्पतरु जीवों कीं समस्त मनोवाञ्छाओं को पूर्ण करता है। उसी प्रकार वेदादि-शास्त्र भी जीवों की समस्त मनोवाञ्छाओं को पूर्ण करने वाला है क्योंकि जीवों की हर प्रकार की वाञ्छा को प्राप्त करने का उपाय वेदादि-शास्त्र से ही जाना जाता है। इसलिए वेदादि-शास्त्र को कल्पतरु कहा गया है। इस वेद रूपी कल्पतरु का फल है—श्रीमद्भागवत। फल में छिलका, गुठली आदि भी रहते है जिन्हें मनुष्य फेंक देता है। और केवल उसका रस ही आस्वादन करता है किन्तु इस श्रीमद्भागवत-रूप फल में छिलका-गुठली आदि कुछ भी त्यागने योग्य पदार्थ नहीं हैं। इसमें केवल रस ही रस है। इसलिए इसे रस स्वरूप या रसमय कहा गया है। फल जब अच्छी तरह पक जाता है तभी वह अत्यन्त मधुर एवं स्वादिष्ट हो जाता है और उसे फिर शुकादि पक्षी जब खाने लगते हैं, तब वह पृथ्वी पर गिर जाता है। इस प्रकार श्रीभगवद्धाम से श्रीनारायण द्वारा श्रीनारदजी को, उनके द्वारा श्रीवेद-व्यासजी को एवं उनके द्वारा श्रीशुकदेव मुनि को पूर्ण परिपक्व अवस्था में यह

फल प्राप्त हुआ–उन्होंने स्वयं आस्वादन किया तथा फिर उनके श्रीमुखसे राजा परीक्षित के माध्यम से समस्त जगत् को भी आस्वादन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। साधारण फल गिरने से टूट जाता है। परन्तु यह फल अखण्ड रूप से ही पृथ्वी पर अवतरित हुआ है—ऐसी एक अचिन्त्य शक्ति से सम्पन्न है यह फल। यह श्रीमद्-भागवत रूपी फल स्वयं ही परम मधुर रसरूप है फिर परम भागवत श्रीशुकदेव मुनि के मुख से कीर्त्तित होने से इसकी परम आस्वाद्यता और भी अति अधिक बढ़ गई है। इसका आस्वादन एकबार नहीं, दो बार नहीं, आलयं अर्थात् लय या मोक्ष पर्यन्त ही करना चाहिए, साधक भक्त हों अथवा सिद्ध, यहां तक कि जो ज्ञान मार्ग के द्वारा निर्गुण-निराकार ब्रह्म में लय या सायुज्य मुक्ति चाहते हैं,उन्हें भी जब तक सायुज्य प्राप्त नहीं होता, उनके लिये भी श्रीमद्भागवत–रस आस्वादनीय है। इसलिए जो रसिक हैं अर्थात् रसज्ञ हैं और जो भावुक हैं अर्थात् रस विशेष की भावना में चतुर हैं, वे इसका बारम्बार आस्वादन करते हैं। उन रसज्ञ भावुक महत् पुरुषों के साथ—उनकी शरण में जाकर उनके मुख से श्रीमद्भागवत रस का आस्वादन करने को भक्ति के प्रधान अङ्गों में गिनाया गया है।

जिन लोगों की ऐसे अचिन्त्य-शक्ति-सम्पन्न परम रस स्वरूप श्रीमद्भागवत में श्रद्धा नहीं है तथा अन्यान्य प्राकृत वाणियों में ही रस का आरोप कर अपने को रसिक मानते हैं, वास्तव में उनके दुर्भाग्य हैं और उनकी ठीक वही दशा है जैसे ऊंट आम्र-मुकुल को छोड़कर पीलू वृक्ष में ही रस का आस्वादन करता है।

६२–सजातीय-स्निग्ध-महत्तर साधुसङ्ग–

समान भाव वाले स्नेही-रसिक एवं अपने से महान साधु-पुरुषों का सङ्ग करना ही इस भक्ति अङ्ग का अभिप्राय है। साधुसङ्ग ही कृष्ण-भक्ति का मूल कारण है।

"कृष्ण-भक्ति जन्म मूल हय साधु-सङ्ग।"

यह बात पहले भी कही जा चुकी है। परन्तु साधक को कैसे साधु का सङ्ग करना चाहिये—इस बात का विशेष वर्णन इस अङ्ग में किया गया है। उस साधु या भक्त का सङ्ग करना चाहिये जो सजातीय हो अर्थात् साधक जिस भाव एवं जिस भगवत्-स्वरूप का उपासक है, उसे उसी भाव के एवं उसी भगवत् स्वरूप के उपासक-भक्त का सङ्ग करना चाहिये। दास्य-भाव के साधक को दास्य-भाव के भक्तों का और सख्य-भाव के साधक को सख्य-भाव के भक्तों का सङ्ग करना चाहिये। इसी प्रकार वात्सल्य तथा मधुर भावके साधकों को भी अपने

अपने भावानुकूल साधु-भक्तों का सङ्ग करना चाहिये। ऐसे ही कृष्ण-उपासक साधक को कृष्ण-भक्तों का एवं अन्यान्य भगवत-स्वरूपों के उपासकों को अन्यान्य-भगवत्-भक्तों का ही सङ्ग करना उपयुक्त है। प्रतिकूल भाव के साधु-सङ्ग से भजन में उन्नति तथा निष्ठा की दृढ़ता सम्भव नहीं होती है। सजातीय-साधु होने पर भी स्निग्ध साधु का सङ्ग करना चाहिये। स्निग्ध का अर्थ है जो स्नेही हो, हितकारी हो, रसिक हो। रूखा एवं उदासीन रहने वाला न हो। उदासीन रहने वाले अथवा स्नेह न करने वाले साधु से भी भजन का रहस्य, भजन-क्रिया की शिक्षा का यथार्थ प्राप्त होना असम्भव है। अतः स्नेही, कोमल हृदय साधु-भक्त का सङ्ग करना उपादेय है। सजातीय तथा स्नेही होने पर भी उस साधु-भक्त का सङ्ग करना चाहिये, जो अपने से भजन-निष्ठा में, भगवद्- अनुभव में, तथा भगवद्-शास्त्रों के रहस्य जानने में उत्कृष्ट है। जो अपने (साधक) से सर्वभाव में श्रेष्ठ हो। जो भजन-विषय में महान हो—उसी भक्त का सङ्ग करने से साधक अपने पथ पर क्रमशः उन्नत हो सकता है—आगे बढ़ सकता है।

इस प्रकार के सजातीय-स्निग्ध एवं महत्-भक्तों के सङ्ग से ही साधक वास्तव भक्ति-पथ पर अग्रसर हो सकता है।

६२—नाम-सङ्कीर्त्तन

भक्ति के तेतीसवें अङ्ग "संकीर्त्तन" तथा अठावनवें अङ्ग "सदा हरिनाम-ग्रहण" के प्रसङ्ग में श्रीनाम की महिमा एवं नाम-ग्रहणादि के सम्बन्ध में बहुत कुछ वर्णन किया जा चुका है। यहां कुछ विशेष बातों का उल्लेख किया जाता है—श्रीनाम-सङ्कीर्त्तन से श्रीभगवान् के नामों का ही उच्च-स्वर से कीर्त्तन अभि-प्रेत है। वे नाम असंख्य हैं, कृष्ण, हरि, राम, नारायण, वासुदेव, माधव, केशव आदि। श्रीभगवान् के असंख्य नामों में कुछ तो हैं गुणानुरूप और कुछ हैं लीला-अनुरूप। गुणानुरूप नामों में—ईश्वर, सर्वज्ञ, विभु, करुणामय, इत्यादि नाम आते हैं और लीलानुरूप नामों में आते हैं गिरिधारी, मधुसूदन, रासबिहारी इत्यादि।

श्रीभगवान् का नाम तथा श्रीभगवान् अभिन्न हैं। नाम भगवान् का प्रतीक नहीं है। भगवन्नाम स्वतन्त्र है एवं देश, काल, पात्र, अवस्था की अपेक्षा नहीं रखता है। श्रीभगवान् की तरह उनका नाम भी अप्राकृत, चिन्मय, सच्चिदा-नन्द है, पूर्ण शुद्ध, नित्यमुक्त एवं रसस्वरूप है।

ऋग्वेद विष्णुसूक्त (१-२२-१५६।३) में कहा गया है—

तमु स्तोतारः पूर्व्यं यथाविद ऋतस्य गर्भं जनुषा पिपर्त्तन।
आस्य जानन्तो नाम चिद् विवक्तन् महस्ते विष्णो सुमतिं भजामहे ॥

—हे स्तुति-कर्त्ताओ ! विष्णु अनादि-सिद्ध हैं। उनसे यज्ञ अथवा जल की उत्पत्ति हुई है, वे ही यज्ञ रूप से अवस्थित हैं। आप उस विष्णु को जितना जानते हैं, उसी अनुरूप स्तुति आदि द्वारा उसी विष्णु की प्रीति विधान कीजिए, उसमे आप उनकी महिमा को जान पाओगे। अधिकन्तु उस सर्वात्मा महानुभाव विष्णु का नाम चिद् स्वरूप अर्थात् अप्राकृत चिन्मय है। वह सबके द्वारा वन्दनीय है एवं सब पुरुषार्थो को देने वाला है—यह जानकर आप सम्यक् रूप से उसका—श्रीविष्णु का नाम कीर्त्तन कीजिए। हे विष्णु ! हे सर्वात्मक देव ! उत्तम रूप से जैसे आपकी स्तुति कर सकूं—यहीं मैं प्रार्थना करता हूं।

श्रीजीवगोस्वामिपाद ने भी भगवत्-सन्दर्भ में इस ऋग्वेद मन्त्र के द्वितीय पद की इस प्रकार व्याख्या की है—"हे विष्णो ! आपको नाम चित्—चिन्मय है, अतएव महः अर्थात् स्वप्रकाश स्वरूप है। इसलिए इस नाम की तनिक भी महिमा जान लेने से, उच्चारणादि एवं महिमादि को पूर्णभाव से न जानने पर भी, नाम के केवल अक्षरों मात्र का उच्चारण करने से पराविद्या को हम प्राप्त कर सकेंगे।

उपर्युक्त वेद-प्रमाण से सिद्ध होता है कि भगवन्नाम चित् स्वरूप, स्वप्रकाश स्वरूप है और नाम—अक्षर भी उसी प्रकार चित् स्वरूप व स्वप्रकाश हैं। परब्रह्म का वाचक या नाम श्रुतियों में प्रणव (ॐकार) बताया गया है। कठोपनिषद् में कहा गया है—"एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म" अर्थात् ब्रह्म का वाचक यह अक्षर भी ब्रह्म—चित् स्वरूप है। यहां नामाक्षर को भी ब्रह्म कहकर वर्णन किया गया है। काष्ठ-पाषाण आदि से निर्मित भगवत्-मूर्त्ति में भगवान् के अधिष्ठित होने पर वह मूर्त्ति जैसे चिन्मयता को प्राप्त कर लेती है, उसी प्रकार प्राकृत अक्षर द्वारा लिखा हुआ भगवन्नाम चिन्मयता को प्राप्त कर लेता है। जब ही अक्षर भगवन्नाम में पर्यवसित होते हैं, तभी ही वे अक्षर चिन्मयता को प्राप्त कर लेते हैं, क्योंकि नाम व नामी अभिन्न हैं।

प्राकृत-इन्द्रियों में आविर्भूत होने पर भी नाम चिन्मय रहता है। प्राकृत जिह्वा पर जो नाम उच्चारित होता है, वह भी अप्राकृत व चिन्मय है। जिह्वा का प्राकृतत्व नाम के नित्यमुक्त शुद्ध चिन्मय स्वरूप को आवृत करने में समर्थ नहीं है। वास्तव में जिह्वा की अपनी शक्ति से अथवा जिसकी जिह्वा है—उसकी शक्ति से श्रीभगवन्नाम उच्चारित हो ही नहीं सकता है क्योंकि—

अप्राकृत वस्तु नहे प्राकृतेन्द्रिय-गोचर

श्रीचै० च० २६-१७६

अप्राकृत वस्तु प्राकृत-इन्द्रियों से ग्रहण नही की जा सकती। भक्ति-रसामृतसिन्धु (१-२-१०६) में कहा गया है—

अत: श्रीकृष्णनामादि न भवेद् ग्राह्यमिन्द्रियै: ।
सेवोन्मुखे हि जिह्वादौ स्वयमेव स्फुरत्यद: ।।

जीव की प्राकृत इन्द्रियों से अप्राकृत श्रीकृष्ण नामादि ग्रहणीय नहीं हो सकते। जो व्यक्ति भगवन्नाम—कीर्त्तनादि के लिए इच्छा करते हैं, श्रीभगवन्नाम कृपा करके स्वयं ही उन जीवों की जिह्वा पर आविर्भूत होता है। श्रीनाम स्वतन्त्र एवं स्वयं प्रकाश होने से स्वयं ही जिह्वादि पर प्रकाशित या आविर्भूत होता है। यही नाम की असाधारण कृपा है। जिह्वा की करनी इसमें कुछ भी नहीं है। इसी प्रकार प्राकृत कानों से जो नाम सुना जाता है, आखों से देखा जाता है, प्राकृत मन से चिन्तन किया जाता है; हाथों से लिखा अथवा स्पर्श किया जाता है—वह सब अप्राकृत व चिन्मय है।

इस प्रकार श्रीभगवान् से अभिन्न उनके महामहिम श्रीनाम का अनेक भक्त मिलकर जब उच्च-स्वर से कीर्त्तन करते है उसे नाम-सङ्कीर्त्तन कहते हैं। श्रीनाम-सङ्कीर्त्तन की समस्त साधन-मार्गों पर व्यापकता है। कर्म, योग एवं ज्ञान मार्गों के साधनों का फल भी बिना श्रीभगवन्नाम-सङ्कीर्त्तन के प्राप्त नहीं हो सकता। और जो फल कर्म-योग-ज्ञानादि मार्गों से प्राप्त होता है, वह फल इन साधनों को छोड़कर केवल श्रीनाम-सङ्कीर्त्तन से प्राप्त होता है।

भगवत्-प्राप्ति के समस्त भक्ति अङ्गों में नवविधा—भक्ति श्रेष्ठ है और फिर नवविधा-भक्ति में सर्वश्रेष्ठ है श्रीनाम-सङ्कीर्त्तन। यथा—

भजनेर मध्ये श्रेष्ठ नवविधा-भक्ति।
कृष्ण कृष्णप्रेम दिते धरे महाशक्ति।।
तार मध्ये सर्वश्रेष्ठ नाम सङ्कीर्त्तन।

श्रीनाम सङ्कीर्त्तन दीक्षा-पुरश्चरणादि तथा देश,काल,पात्र·दशादि किसी की भी अपेक्षा नहीं रखता। नामापराधों को भी खण्डन करने की एक मात्र शक्ति श्रीनामसङ्कीर्त्तन में है। यह समस्त प्रायश्चित्तों में महान है एवं परमधर्म है।

विशेषत: कलियुग में तो श्रीनामसङ्कीर्त्तन ही परम उपाय है। कलियुग अतिशय दोषों एवं पापों का घर होते हुए भी इसी परम धर्म श्रीनामसङ्कीर्त्तन के कारण शास्त्रों में प्रशंसनीय हो रहा है। श्रीकरभाजन मुनि ने राजा निमि से कहा है—

कलिं सभाजयन्त्यार्या गुणज्ञाः सारभागिनः।
यत्र सङ्कीर्त्तनेनैव सर्वस्वार्थोऽभिलभ्यते॥

कलियुग में श्रीनामसङ्कीर्त्तन से समस्त मनोवाञ्छितों की प्राप्ति होती है अथवा समस्त वाञ्छित-फल जिस श्रीकृष्ण-प्राप्ति में अपने आप प्राप्त हो जाते हैं, वह श्रीकृष्ण-भक्ति कलियुग में श्रीनामसङ्कीर्त्तन से ही प्राप्त होती है, इसीलिए एक गुण के कारण गुणग्राही तथा सार-वस्तु को ग्रहण करने वाले बुद्धिमान लोग कलियुग की प्रशंसा करते हैं।

सब से बड़ी विशेषता श्रीनामसङ्कीर्त्तन की यह है कि स्वयं-भगवान् ब्रजेन्द्रनन्दन श्रीशचीसुत श्रीकृष्ण चैतन्य महाप्रभु के रूप में अवतीर्ण होकर कलियुग में श्रीनामसङ्कीर्त्तन को स्वयं करते और जग-जीवों से कराते हैं। स्वयं इस का सर्वत्र प्रचार एवं प्रसार करते हैं। इसलिए कलियुग में एकमात्र श्रीनामसङ्कीर्त्तन को परम-धर्म व परम उपाय कहा गया है। अवश्य इर युग में ही श्रीनामसङ्कीर्त्तन पूर्ण महिमा से विराजता है, नित्य चिन्मय सर्वाभीष्ट प्रदान करने वाला है, परन्तु कलियुग को छोड़कर और किसीयुग में भो श्रोभगवान् स्वयं इसका ग्रहण, प्रचार-प्रसार नहीं करते हैं केवल कलियुग में ही स्वयं श्रोकृष्णचैतन्य महाप्रभु रूप में इसे स्वयं आस्वादन करते हैं एवं पात्रापात्र का कुछ भी विचार न कर आचाण्डाल इसका आस्वादन कराते हैं। इसलिए कलियुग में श्रीनामसङ्कीर्त्तन परम धर्म है तथा इसो नाम सङ्कीर्त्तन के कारण कलियुग भी धन्य तथा प्रशंसनीय माना गया है।

६४—श्रीवृन्दावन-वास—

भक्ति के पांच प्रधान अङ्गों में अन्तिम अङ्ग है श्रीवृन्दावन—व्रजमण्डल में वास करना। श्रीवृन्दावन निखिलैश्वर्य-माधुर्य परिपूर्ण सर्वावतारी सर्वकारण कारण स्वयं भगवान् व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण की परम मधुर दिव्य लीलाओं का नित्य धाम होने से सर्वोत्कृष्ट, सर्वोत्तम महिमायुक्त है।

श्रीपद्म पुराण में कहा है—

अन्येषु पुण्यतीर्थेषु मुक्तिरेव महाफलम्।
मुक्तैः प्रार्थ्या हरेर्भक्ति मथुरायान्तु लभ्यते॥

अन्यान्य पुण्यतीर्थों में वास करने से जो सबसे बड़ा फल प्राप्त होता है, वह है मुक्ति। परन्तु मुक्तजन भी जिस हरिभक्ति की वाञ्छा करते रहते हैं, वह

व्रज मण्डल में निवास करने से सहज में प्राप्त होजाती है। विशेषतः श्रीवृन्दावन-वास में साधन भक्ति के प्रायः समस्त अङ्गों का अपने आप सहज में आचरण तो हो ही जाता है, विशुद्ध प्रेम-भक्ति के उदित होने की सम्भावना केवल व्रज मण्डल में ही है, अन्यत्र कहीं नहीं। साधु सङ्ग, भगवत लीला-दर्शन, भगवत्-प्रसाद, भागवत-श्रवण, व्रज-रज, श्रीभगवन्नाम लीला-श्रवण एवं कीर्त्तन इत्यादि ये सब ही श्रीवृन्दावन-वास में सुलभ हैं जो श्रीवृन्दावनविहारी श्रीकृष्ण-विषयक भावों को उदित करते हैं, इसलिए श्रीवृन्दावन-वास की भक्ति के प्रधान-अङ्गों में गणना की गई है।

इस प्रकार—श्रीमूर्त्ति-सेवा, रसिकों के साथ श्रीमद्भागवतार्थ-आस्वादन, सजातीय-स्निग्ध महत् पुरुषों का संग, श्रीनामसङ्कीर्त्तन तथा श्रीवृन्दावन-वास, इन पांच अङ्गों के साथ मिलकर भक्ति के कुल चौंसठ अङ्ग माने गए हैं।

हरि-भक्ति को सुदुर्लभा अर्थात् अति कठिनता से प्राप्त होने वाली कह कर शास्त्रों ने वर्णन किया है। परन्तु उपर्युक्त पांच अङ्ग ऐसे अद्भुत अचिन्त्य शक्तिशाली हैं कि इनमें से किसी एक का भी बहुत थोड़ा सा सङ्ग या आचरण प्राप्त होजाए, तो श्रद्धाहीन व्यक्ति में भी कृष्ण-रति उदित हो आती है और श्रद्धावान व्यक्तियों में तो रति एवं प्रेम दोनों का ही उदय हो आता है। यथाः—

साधुसङ्ग, नाम कोर्त्तन, भागवत श्रवण। मथुरा वास श्रीमूर्त्तिर श्रद्धाय सेवन॥
सकल साधन श्रेष्ठ एइ पञ्च अङ्ग। कृष्ण प्रेम जन्माय एई पञ्चेर अल्प सङ्ग॥

श्रीमूर्त्ति—के सम्बन्ध में अल्प सङ्ग का उदाहरण देते हुए श्रीरूप गोस्वामिपाद ने भक्तिरसामृतसिन्धु (१८७) में लिखा है।

स्मेरां भङ्गीत्रय परिचितां साचिविस्तीर्णदृष्टिं,
वंशीन्यस्ताधरकिशलयामुज्ज्वला चन्द्रकेण।
गोविन्दाख्यां हरितनुमितः केशितीर्थोपकण्ठे,
मा प्रेक्षिष्टास्तव यदि सखे ! बन्धुसङ्गेऽस्तिरङ्गः॥

हे सखे ! यदि तुम्हें बन्धु-बान्धवों के साथ आमोद-प्रमोद करने की इच्छा है तो केशीघाट निकटवर्ती श्यामल, त्रिभङ्ग-ललित, वंक-विशाल नयन, वंशीवजाते हुए मोरपुच्छधारी हंसमुख श्रीगोविन्दमूर्ति के दर्शन मत करना। अभिप्राय यह है कि श्रीमूर्त्ति दर्शन करते ही तुम फिर संसार के काम के न रहोगे—भगवत् प्रीति उदित हो आवेगी।

श्रीमद्भागवत—के सम्बन्ध में भी कहा गया है—

शङ्के नीताः सपदि दशमस्कन्धपद्यावलीनां
वर्णाः कर्णाध्वनि पथिकतामानुपूर्व्याद्भवद्भिः।

हंहो डिम्भाः ! परमशुभदान् हन्त धर्मार्थकामान्
यद्गर्हन्तः सुखमयममी मोक्षमप्याक्षिपन्ति ।।

अहो शिशुगण(मुर्खो)मालूम होता है कि श्रीमद्भागवत के परमकल्याण-कारी, धर्मार्थ-कामरूप त्रिवर्गों को निन्दित करने वाले, सुखमय मोक्ष को भी तिरस्कार करने वाले, दशमस्कन्ध के श्लोकों के वर्णों ने क्रमशः तुम्हारे कानों में अभी अभी प्रवेश किया है; हाय ! तुमने यह क्या किया ?–अभिप्राय यह है कि यहाँ मूर्ख शब्द से श्रद्धारहित लोगों का बोध होता है। और कानों में प्रवेश से थोड़ा सा ही सुनना ही अभिप्रेत है और फिर सुखमय मोक्ष को भी तिरस्कार करने वाले—गुण से भगवत् भक्ति की सूचना मिलती है अर्थात् अल्प मात्र श्रीभागवत सुनने से भक्ति का उदय हो आता है जिससे फिर मुक्ति सुख भी तुच्छ हो जाता है।

महत् पुरुष या श्रीकृष्ण भक्त के सम्बन्ध में कहते हैं—

दृगम्भोभिर्धौतः पुलकपटली मण्डिततनुः स्खलन्नन्तः फुल्लो दधदति पृथुं वेपथुमपि ।
दृशोःकक्षां यावन्मम स पुरुषःकोऽप्युपययौ न जाने किं तावन्मतिरिह गृहे नाभिरमते ।।

नेत्रजल से स्नात, पुलकावली से रोमांचित शरीर, प्रतिपद में स्खलित मन में अति आनन्दित, पुलकावली से कम्पित कोई एक अनिर्वचनीय पुरुष को देखते ही न जाने मेरा क्यों इस घर में मन नहीं लगता है ?—इस श्लोक में भी "देखते ही"—से कृष्ण-भक्त का अति अल्प संग सूचित होता है और घर में अना-सक्ति को प्रकट करता है—जो एक मात्र कृष्ण-प्रीति का लक्षण है।

श्रीनामसङ्कीर्त्तन के—सम्बन्ध में भी कहा गया है—

यदवधि मम शीता वैणिकेनानुगीता श्रुतिपथमघशत्रोर्नामगाथा प्रयाताः ।
अनवकलितपूर्वां हन्त कामप्यवस्थां तदवधि दधदन्तर्मानसं शाम्यतीव ।।

जब तक वीणा बजाने वाले किसी पुरुष द्वारा गायी-बजाई हुई श्रीकृष्ण की नाम-गाथा मेरे कानों में गई है तब से मेरा चित्त किसी एक अनिर्वचनीय दशा विशेष को प्राप्त हो रहा है और वाह्यिक समस्त विषयों से उपरत हो रहा है।— इस श्लोक से भी श्रीनारदद्वारा श्रीकृष्ण-नाम लीला एकबार सुनते ही प्रेमावस्था प्राप्ति का प्रमाण मिलता है।

श्रीवृन्दावन-वास का भी इसी प्रकार स्वाभाविक फल है कि श्रीकृष्ण प्रीति का उदय होता है।

अतः भक्तिपथ-पथिकों को उपर्युक्त मुख्य पांच अङ्गों का अवश्य ही यथा सम्भव आचरण करना चाहिये।

(पूर्वाङ्क से आगे)

श्रीहरिनाम

—श्रीहरिदास जी शास्त्री

परम प्राणमय श्रीनाम माधुरी में मन निमग्न होने से क्षण-क्षण में अभिनव श्रीनाम-माधुर्य आस्वादन के लिए चित्त उद्वेलित हो उठता है, माधुर्य-वारिधि में निमग्न होकर भी एक कण स्पर्श का अभाव, वस्तु की सम्पूर्ण अनुभूति में भी अपरिचित की भांति भाव-आकर—सुदीर्घ अकृत्रिम अनशन-व्रतरत व्यक्ति की जल प्यास के समान श्रीनाम माधुरी आस्वादन की दुर्दम्य लालसा से मन को भर देता है। ऐसी ही अवस्था में श्रीकृष्ण नामैक-जीवातु पूर्णानुराग रस-मूर्ति श्रीभानुनन्दिनी अपनी प्रियसखि श्रीश्यामला को सहसा कह बैठी–" 'हे कृशाङ्गि' श्यामले! जिनके 'कृष्ण' इस दो अक्षर मात्र वाले नाम ने कर्ण पदवी में प्रविष्ट होकर ही धीरज का लोप कर दिया है, वह व्यक्ति कौन है? श्यामला बोली—'हे रागान्धे! तुम क्या कह रही हो? तुम तो सदा उनके वक्षःस्थल में खेलती रहती हो। श्रीराधा–"सखी! हंसी न करो"। श्यामला–'हे मोहिते! अभी अभी तुम्हारी उनके साथ भेंट करवाई है। श्रीराधा—सत्य ही है, किन्तु मेरे मन में ऐसा लगता है कि—जैसे जन्म में विद्युत के समान प्राणेश्वर ने आज ही मेरे नयन प्राङ्गण को प्राप्त किया हो,

कोऽयं कृष्ण इति व्युदरयति धृतिं यस्तन्विकर्णंविशन्,
रागान्धे! किमिदं सदैव भवती तस्योरसि क्रीड़ति।
हास्यं मा कुरु मोहिते! त्वमधुना न्यस्तास्य हस्तेमया,
सत्यं सत्यमसौ दृगाङ्गन मगाददद्यैव विद्युन्निभः॥
(उ० स्यामि० १४८)

प्रतिपद ललित, प्रत्यह नूतन, प्रतिक्षण प्रवर्द्धनशील श्रीनामामृत वारिधि तरङ्गहीन होना नहीं जानता, भाव तरङ्गों से पूर्ण होकर ही रसनिधि कहलाता है, नामाकृष्टा रसज्ञा श्रीभानु नन्दिनी के हृदय में श्रीनामी का सर्वाङ्गीन आस्वादन होने पर भी अतृप्तावस्था रहती है, और श्रीकृष्ण सौन्दर्य-सौस्वर्य-सुगन्धराशि

माधुर्य व आलिङ्गन रूप रसानुभव के लिए अर्बुद नयन, अर्बुद कर्ण, अर्बुद नासा, अर्बुद रसना व सर्बुद हृदय हो, यही अभिलाषा होती है।

नेत्रार्बुदस्यैव भवन्तुकर्णं, नासा रसज्ञा हृदयार्बुदम्वा ।
सौन्दर्य-सौस्वर्य-सुगन्धपूर, माधुर्य-संश्लेष-रसानुभूत्यै ॥
(श्रीविश्वनाथ चक्रवर्त्ती)

उत्कण्ठाव्याप्त-हृदया श्रीभानुनन्दिनी पुनर्वार कहती हैं—हे सखि ! मेरी श्रुति, रसना व दृष्टि सदा के लिए उत्कण्ठातिशय ज्वर सें आतुर है, किन्तु इन सबों को शत धिक्कार है। कारण, आज यह सब श्रीश्यामसुन्दर के सौस्वर्य-सौरस्य एवं सुरूपामृत का एक कण भी पान न कर सकीं।

धिङ्ग मे श्रुतिं धिग्रसनां दृशं च धिक्, सदातनौत् कण्ठयभर-ज्वरातुरम् ।
प्रापुर्न पातुं लवमप्यमुष्य याः, सौस्वर्य- सौरस्य- सुरूपतामृतम् ॥
(कृष्णभावनामृतम्)

तब ललिता बोली—हे राधे ! श्रीकृष्ण संयोग ने तुम्हें निर्वेद-पद्धति का (कालकूट का) (धर्मोल्लंघन निमित्त वेद रहित पद्धतिका)पाठ पढ़ाया है, अब वियोग भी निर्वेद-पद्धति का ही अध्ययन करा रहा है, उन दोनों में योग तुम्हें श्रीकृष्णा-वाक्यामृत, रूपामृत, व अधरामृत की मधुरता का आस्वादन कराता है, अब वियोग भी निर्वेद-पद्धति का अनुभव करा रहा है।

निर्वेद-पद्धतिमपो पठद्देवपूत्र योगोऽधुना तु सरले! भवतीं वियोगः ।
आदयोऽच्युतामृतमदर्शयदर्थमस्या अन्योऽनुभावयति हा कटुकालकूटम् ॥
(कृ० भा०)

श्रीभानुनन्दिनी ने कहा—हे प्रियसखि ! श्रीकेशव की विविध विलास चेष्टा हलाहल के समान मेरे चित्त को जला रही है, उनकी गुणराशि घुन की भांति मेरे मरम को छेद रही है। उनका प्रेम हृदय व्रण के समान मेरे हृदय में विषम विकार उठा रहा है।

गुरुकुल का कितना गौरव है , क्या मैं नहीं जानती हूं ? कौलिन्य रक्षा में क्या मेरी श्रद्धा नहीं है ? दुर्जनों की कालकूट की भांति कटूक्ति से क्या मुझे भय नहीं है ? किन्तु क्या करूँ ? उद्वेग की अतिशयता से मेरा चित्त अस्थिर हो गया है, एवं वह नीरद-कान्ति नवयुवक की गुणराशि श्रवण विवर में प्रविष्ट होकर घुन की भांति अन्तःकरण को जर्जरित कर रही है।

विलास-चेष्टां सखि ! केशिनाशिनो हलाहलाभाप्रद हन्ति मे मनः।
कृन्तन्ति मर्माणि गुणा घुनाइव प्रेमा विकारी हृदि हृद् व्रणो यथा ।।

नो विघ्नः किमु गौरवं गुरुकुले कौलिन्य रक्षाविधौ
न श्रद्धा किमु दुर्जनोक्ति गरल ज्वालासु किं नोभयम् ।
उद्वेगादनवस्थितं मम मनः कस्यापि मेघत्विषोः
यूनः श्रोत्रगते घुणैरिव गुनैरन्तः कृतं जर्जरम् ।।

(अलंकार कौस्तुभे)

'श्रीकृष्ण' नामाक्षर का श्रवण कीर्त्तन रूप विलास-जात जो परमानन्द श्रवण, रसना, व चित्त-वृत्ति में सञ्चारित होता है। उससे श्रीकृष्ण-स्वरूप-रूप गुण-लीला प्रभृति को परिपूर्ण स्फूर्त्ति होती है। श्रीकृष्ण नामाक्षर विलास के साथ साक्षात् नामी श्रीकृष्ण विलास का कोई प्रभेद नहीं है। श्रीकृष्णनाम श्रीभानुनन्दिनी को नामी के समान ही सम्पूर्ण मुग्ध करता है।

श्रीकृष्णनाम के श्रवण से श्रीभानुनन्दिनी का चित्त,जब श्रीनामामृत आस्वादन में विभोर हो गया, तन्मयता बढ़ती गई तो आप कह बैठी—

"सई केवा शुनाइल श्याम नाम
काणेर भितर दिया मननें पशिलगो आकुल करि मन प्राण ।।
ना जानि कतेक मधु श्मामनामे आछे गो वदन छांड़िते नाहीं पारे ।
जपिते जपिते नाम अवश करिल गो केमनें पाईव सखि तारे ।।

इस प्रकार रसावेश के समय उनका पालित शुक-पक्षी सहसा उनके समीप में आ गया, यह शुक श्रीकृष्णनाम पाठाभ्यासी श्रीभानुनन्दिनी का विद्यार्थी है। प्रतिदिन की भांति आज भी पाठाभ्यास के लिए उत्सुक होकर श्रीकृष्ण नाम की आवृत्ति करने लगा। श्रीभानुनन्दिनी प्यार से शुक को अपनी गोदी में रखकर कमल विनिन्दित कर से पुचकारती हुई अनार-दाना खिलाने लगी, और साथ ही अनुरागामृत-परिपूरित वाणी से श्रीकृष्णनाम का पाठाभ्यास कराने लगी।

श्रीकृष्णनाम ग्रहण से श्रीभानुनन्दिनी की अतिशय विभोर अवस्था को देखकर शुक सहसा वहां से उड़ गया, और पवन प्रवाहित मृगमद-नीलोत्पल परिमल विनिन्दित श्रीकृष्ण अङ्ग-सोरभ से आकृष्ट होकर उस मनोरम पुष्पोद्यान में आ पहुंचा जहां श्रीकृष्णचन्द्र श्रीराधानामामृत का आस्वादन बांसुरी की तान से तन्मय होकर कर रहे थे।

शुक ने—"श्रीकृष्ण रूपामृतसिन्धु, याहार तरङ्ग विन्दु, सेई बिन्दु

जगते डुबाय" ऐसी अनुपम रूपराशि को अतृप्त नयनों से देखा और चिर अभ्यस्त श्रीकृष्णनाम का उच्चारण किया।

श्रीकृष्णचन्द्र चिर परिचित समीपस्थ श्रीभानुनन्दिनी के शुक को देखकर खुशी से शुक की प्रशंसा करने लगे तो शुक ने कहा—'जो प्रगाढ़ अनुराग के आतिशय्य से व्याकुलचित्ता होकर 'कृष्ण' मह सुमधुर नाम का पाठ मृदुस्वर से करा रही थी, उस ईश्वरी—श्रीभानुनन्दिनी की करकमल कलिका से जाति सुलभ अतिशय चपलता के कारण मैं विच्युत हो गया हूँ। अतएव अधन्य हूँ, मुझको धिक्कार है।

"गाढ़ानुराग भर—निर्भरभङ्गुरायाः,
कृष्णेति नाम मधुरं मृदु पाठयन्त्याः।
धिङ्: मामधन्यमति चञ्चल जाति दोषा—
द्देव्याः कराम्बुरुह कोरकतश्च्युतोऽस्मि॥

(आनन्द वृन्दावन चम्पू)

श्रीभानुनन्दिनी का पालित श्रीकृष्ण-नामाकृष्ट शुक पक्षी साक्षात् श्रीकृष्ण दर्शन पाकर भी निजेश्वरी श्रीभानुनन्दिनी के आनुगत्य से उनके श्रीमुख निःसृत 'कृष्ण' नाम के अनुकीर्तन से क्षणकाल वञ्चित होकर अपने को अधन्य मानने लगा।

श्रीनाम-संकीर्तन ही व्रज-प्रेम का अन्तरङ्ग स्वरूप है। नित्य सिद्ध मूल स्वरूप शक्ति व उनके परिकरगण सब ही श्रीनाम परायण-श्रीनामैक जीवन हैं।

साधकों के लिए भी यह श्रीनाम-संकीर्त्तन नवविधा भक्ति के प्रकार-समूह में अपरिहार्य नित्य सम्बन्धान्वित होकर विराजता है। इस तत्त्व का यथार्थ अनुसन्धान पुनः पुनः करना एकान्त कर्त्तव्य तो है ही, वरं यह एक परम रहस्य भी है।

क्रमशः
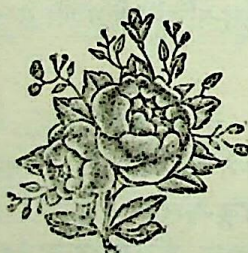
(पूर्वाङ्क से आगे)

श्रीजीव गोस्वामी

—श्रीश्याम लाल हकीम

रचनाएं

श्रीजीवगोस्वामिपाद ने अपने प्रकट-काल में असंख्य जन-समूह को भक्ति की उच्चतम शिक्षा से अनुगृहीत किया ही था, साथ ही इन्होंने भक्ति-विषयक समस्त सिद्धान्तों को अत्यन्त परिश्रम कर के लिपिबद्ध कर भावी वैष्णव-विश्व को अपूर्व अवदान प्रदानकर चिर आभारी किया है। इनकी अनेक रचनाओं में छब्बीस रचनाएं सुविख्यात् हैं, जिनका यहाँ संक्षिप्त परिचय उद्धृत किया जाता है—

१ **श्रीहरिनामामृत व्याकरण**—'शब्द-शास्त्र का मुख्य तात्पर्य केवल श्रीकृष्ण ही है'—जगत् को इस बात की शिक्षा देने के लिए श्रीमन्महाप्रभु अपने विद्यार्थियों के सामने समस्त सूत्र-वृत्त की टीका में श्रीहरिनाम की ही व्याख्या किया करते थे।—इसी भाव का अवलम्बन कर इन्होंने श्रीहरिनामावलीवलित श्रीहरिनामामृत व्याकरण की रचना की।

वस्तुतः तर्कयोग्य, वृथा वागाडम्बरपूर्ण एवं भगवन्नाम सम्बन्ध-हीन अन्यान्य व्याकरणों के कुचक्र से वैष्णव धर्मालम्बी विद्यार्थियोंको बचानेके लिए इनको यह सरस रचना है—सर्वेश्वरसन्धि (स्वर सन्धि); विष्णुजनसन्धि (व्यञ्जन सन्धि), विष्णुसर्गसन्धि (विसर्ग सन्धि), विष्णुपद-प्रकरण, सर्वेश्वरान्त पुरुषोत्तम-लिङ्ग (स्वरान्त पुल्लिङ्ग), लक्ष्मीलिङ्ग (स्वरान्त स्त्रीलिङ्ग), ब्रह्मलिङ्ग (स्वरान्त नपुंसक लिङ्ग), विष्णुजनान्त पुरुषोत्तमलिङ्ग (व्यञ्जनान्त पुल्लिङ्ग), विष्णुजनान्त लक्ष्मीलिङ्ग (व्यञ्जनान्त स्त्रीलिङ्ग), विष्णुजनान्त ब्रह्मलिङ्ग (व्यञ्जनान्त नपुंसक-लिङ्ग), विशेषण लिङ्ग, कृष्णनाम प्रकरण (सर्वनाम), आख्यात प्रकरण, कारक प्रकरण व अच्युतादि-अर्थ (लकारार्थ-निर्णय), आत्मपद-परपद-प्रकिया (आत्मनेपद-परस्मैपद-विधान) कृदन्त-प्रकरण, समास प्रकरण, एवं तद्धित-प्रकरण—इन समस्त विषयों को लेकर ३१८६ सूत्रों में यह सर्वतोभावेन परिपूर्ण व्याकरण है।

२. **श्रीगोपाल-विरुदावली**—श्रीरूपगोस्वामिपाद-रचित "श्रीगोविन्द-विरुदावली" एवं 'सामान्य विरुदावली-लक्षण"—इन दोनों ग्रन्थोंके आधार पर इस स्तोत्र-विषयक काव्य विरुद की रचना की गई है।

३. **श्रीश्रीभक्तिरसामृत-शेष**-- श्रीरूपगोस्वामिपाद-रचित "श्रीभक्ति-रसामृत सिन्धु" ग्रन्थ में अवर्णित काव्याङ्कार गुण-दोष रीति आदि विषयों को वर्णन करके इस ग्रन्थ को श्रीजीवगोस्वामिपाद ने 'श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु' के परि-शिष्ट रूप में प्रस्तुत किया है। काव्य-स्वरूप निर्णय निरूपण, ध्वनि निर्णय, शब्दा-लङ्कार व अर्थालङ्कार निर्णय, दोष-निर्णय, रीति-निर्णय, गुण-निर्णय आदि विषयों को लेकर सात प्रकाश इसमें गठित किए गए हैं।

४. **श्रीमाधव-महोत्सव**—इस महाकाव्यमें श्रीराधा जी का श्रीवृन्दावन राज्याभिषेक विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। इसमें निम्नलिखित नौ उल्लास या सर्ग हैं—१. उत्सुक-राधिक, २. उन्मन्यु-राधिक, ३. उत्फुल्ल-राधिक, ४. उद्योत-राधिक, ५. उदित-राधिक, ६. उन्नत-राधिक, ७. उत्सिक्त-राधिक, ८. उज्ज्वल-राधिक एवं ९. उन्माद-राधिक।

५. **श्रीसंकल्प-कल्पद्रुम**—श्रीश्रीगोपाचम्पू (प्रस्तुत ग्रन्थ) की अनुक्रमणिका स्वरूप में ही इस ग्रन्थ को प्रकाशित कर श्रीगोस्वामिपाद ने श्रीश्रीराधागोविन्द की नित्यलीला का वर्णन किया है।

६. **श्रीभागवतसन्दर्भ (षट् सन्दर्भ)**—यह ग्रन्थ सर्वदर्शन-शिरोमणि स्वरूप है, जिसके छः खण्ड हैं। प्रथम खण्ड का नाम '**तत्वसन्दर्भ**' है, जिसमें समस्त शास्त्रों की अपेक्षा श्रीमद्भागवत की प्रमाण—श्रेष्ठता और तत्व-निरूपणता वर्णन की गई है।

७. द्वितीय '**भगवत् सन्दर्भ**' है जिसमें ब्रह्म-परमात्मा-विचार, वैकुण्ठ एवं विशुद्ध सत्व-निरूपण, स्वरूप का स्वशक्तिकत्व, विशुद्ध शक्ति-आश्रयत्व, शक्ति का अचिन्त्यत्व एवं नानात्व स्थापन, अन्तरङ्गादि भेद मायाशक्ति, स्वरूप-शक्ति गुणों की स्वरूपभूतता, श्रीविग्रह की नित्यता, विभुता, सर्वाश्रयता, स्थूल-सूक्ष्मातिरिक्तता स्वप्रकाशता, रूपगुणलीलामयत्व, अप्राकृतत्व, पूर्णस्वरूपत्व, परिच्छिद समूह का स्वरूपांशत्व, वैकुण्ठ, पार्षद, त्रिपाद विभूति की अप्राकृतता, ब्रह्म और भगवान् का तारतम्य, भगवत्ता में ही पूर्णता, सर्ववेदाभिधेयत्व, स्वरूप-शक्ति विवरण, भगवाद् का वेदभक्त्यैकगम्यत्व—आदि विषय वर्णित हैं।

८. तृतीय खण्ड '**परमात्म सन्दर्भ**' में परमात्मा एवं उसके भेद, गुणाव-तारों में तारतम्य, जीव, माया जगत्, परिणामवाद स्थापन, विवर्त समाधान, जगत् एवं परमात्मा का अनन्यत्व, की सत्यता और श्रीधरस्वामी-मत, निर्गुण ईश्वर की कर्तृत्व योजना, लीलावतारों की भक्त के उद्देश्य में प्रवृत्ति, षड्विध चिह्नों द्वारा भगवान् का ही तात्पर्यत्व आदि—विषयों की समालोचना है।

९. चतुर्थ खण्ड '**कृष्ण सन्दर्भ**' है—इसमें श्रीकृष्ण की स्वयं भगवत्ता, कृष्णगुणलीला पुरुषावतारों का कर्तृत्व, श्रीधरस्वामी की सम्मति, सर्वशास्त्रों में

कृष्ण-समन्वय, श्रीबलदेवादि का महासङ्कर्षणत्व, श्रीकृष्ण में सर्वांशप्रवेश विचार एवं उनमें उनकी नित्यस्थिति, द्विभुजत्व, गोलक निरूपण, श्रीवृन्दावनादि का नित्य कृष्णधामत्व, गोलोक तथा श्रीवृन्दावन की एकता, यादव तथा गोपगणों का नित्य-कृष्ण-परिकरत्व, प्रकट-अप्रकट लीला व्यवस्था, प्रकट-अप्रकट लीला का समन्वय, श्रीकृष्ण का गोकुल में प्रकाशातिशयत्व, पट्ट महिषियों का स्वरूप शक्तित्व, पट्ट महिषियों की अपेक्षा गोपीगणों का उत्कर्ष, उनके नाम तथा श्रीराधिका की सर्वोत्कर्षता आदि विषय आलोचित हैं।

१०. पञ्चम खण्ड का नाम **'भक्ति-सन्दर्भ'** है, जिसमें भगवद्भक्ति का साक्षात् अभिधेयत्व, अन्वय एवं व्यतिरेकभाव निरूपण, सर्वशास्त्र-श्रवण वर्णाश्रमाचार एवं अन्तर्भूत ज्ञान द्वारा अन्वयभाव, कर्मों का अनादर, हरिविमुख-विप्रनिन्दा, भगवदर्पित कर्मों-योग का अनादर, ज्ञान का श्रमत्वप्रदर्शन एवं अन्याश्रय स्वातन्त्र्य के अनादर द्वारा तदीय आदरविधान,अभक्तमात्र का अनादर, जीवन्मुक्त एवं परम-मुक्त शिवादि पर्य्यन्त भक्त की भक्ति की नित्यता व अभिधेयत्व, भक्ति का सर्व-फलदातृत्व, निर्गुणता, स्व-प्रकाशता तथा परम सुखरूपता, भगवत्-प्रीतिहेतु वैशिष्ठ्य, भजनाभास की फलप्राप्ति, निष्काम भक्ति की प्रशंसा, अधिकार भेद से पुनः निष्कामभक्ति स्थापन, साधुसङ्ग का निदानत्व, महाभागवतभेद विशेष, सर्राश्रय-विवेक, भक्तिभेद निरूपण में ज्ञान का लक्षण, अहंग्रहोपासना का लक्षण, भक्तिलक्षण, आरोपसिद्धादि का लक्षण, वैधिभक्ति से शरणापत्ति गुरुसेवा, महा-भागवत प्रसङ्ग एवं तत्परिचर्य्या, साधारण वैष्णवसेवा, श्रवण, कीर्त्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, अपराध तथा उनका उपशमन, वन्दन, दास्य, सख्य, आत्मनिवेदन रागानुगा-भक्ति विचार, कृष्ण भजनवैशिष्ठ्य एवं सिद्धिक्रम आदि विषय वर्णित हैं।

११. षष्ठ खण्ड **'प्रीति सन्दर्भ'** है—जिसमें, प्रीति का परम पुरुषार्थ निरूपण, मुक्ति में सविशेष तथा निर्विशेष भेद, जीवन्मुक्ति तथा उत्क्रान्त मुक्तिभेद, समस्त मुक्तियों की अपेक्षा भगवत् प्रीति का आधिक्य, परतत्व साक्षात्कार में परम पुरुषार्थ प्राप्ति, सद्यक्रम मुक्ति, ब्रह्म साक्षात्कार तथा भगवत्-साक्षात्कार लक्षणा-रूपा जीवन्मुक्ति व उत्क्रान्तमुक्ति, अन्तर्बहिर्भेद से भगवत्साक्षात्कार लक्षणा का द्विविधत्व, ब्रह्म साक्षात्कार लक्षणा की अपेक्षा श्रेष्ठता, बहिः साक्षात्कार लक्षणा जीवन्मुक्ति व उत्क्रान्तमुक्ति, सालोक्यादि भेद, सामीप्य मुक्ति की अधिकता, भक्ति का मुक्तित्व व उपादेयत्व एवं उसकी उत्पत्ति, प्रीति का स्वरूप लक्षण, गुणातीत प्रीति का तटस्थ लक्षण एवं आविर्भाव-भेद, प्रीत-रति आदि भेद, व्रज देवियों के काम में शुद्धप्रेमत्व स्थापन, ज्ञान-भक्ति आदि का मिश्रत्व, परिकराभिमानी गणों में प्रीति उत्कर्ष, ऐश्वर्य माधुर्यानुभव का तारतम्य गोकुलवासियों की श्रेष्ठता, उनमें सखाओं की, मातापिता की, गोपीगणों की तथा श्रीराधिका की उत्तरोत्तर श्रेष्ठता, अनुकरण-कार्य में रसत्व, लौकिक रसापेक्षा श्रेष्ठता, आलम्बन विभाग, उद्दीपन विभाग, गुण, धीरोदात्तादि भेद, माधुर्य की उत्तमता, अनुभाव, सञ्चारी, रस का

पञ्चविधत्व, गौण रसों का सप्तत्व, रसाभास, शान्त, दास्य, प्रश्रय, वात्सल्य एवं उज्ज्वल रस में वल्लभभेद, स्थायी, सम्भोग तथा विप्रलम्भभेद, पूर्वराग, मान, प्रेमवैचित्य, प्रवास व श्रीराधिकाजी की महिमा आदि विषय वर्णन किये गये हैं।

इस प्रकार चार सन्दर्भों में सम्बन्ध तत्व, भक्ति-सन्दर्भ में अभिधेयतत्व, तथा प्रीति-सन्दर्भ में प्रयोजन-तत्व का वर्णन करके इस रचना में श्रीजीवपाद ने सर्व वेदान्त-दर्शन का सार प्रकाशित किया है।

१२. **सर्व सम्वादिनी**—यह ग्रन्थ उपर्युक्त षट् सन्दर्भान्तर्गत सम्वन्ध-तत्वात्मक तत्व, भगवत्, परमात्म एवं श्रीकृष्ण-सन्दर्भ का अनुव्याख्य स्वरूप ही है। श्रीजीवगोस्वामिपाद ने इस ग्रन्थ में वेद-वेदान्त-वेदाङ्ग-न्याय-सांख्य-पातञ्जल-स्मृति पुराणादि सर्व-शास्त्रों के सिद्धान्तों व पूर्वाचार्यों के मतमतान्तरों का मन्थन करके सम्वाद अर्थात् समन्वय किया है अर्थात् प्रत्येक को यथायोग्य स्थान पर विन्यस्त किया है। इसलिए इसका नाम 'सर्वसम्वादिनी' रखा गया है। सन्दर्भ-चतुष्टय में शास्त्र-प्रमाण या सिद्धान्तादि के सम्बन्ध में जहां-जहां असम्पूर्ण विवेचना की गई थी, ग्रन्थकार ने इस ग्रन्थ में उसी उसी अंश को पूर्ण करने के लिए अनेक शास्त्र-पुराण व युक्तियों का सन्निवेश किया है। मूलग्रन्थ के किस अङ्क के साथ कौनसा प्रमाण व सिद्धान्त संयुक्त होगा, यह सब इसमें जनाया है। इसमें ११७ ब्रह्मसूत्र एवं ७९ आकरग्रन्थों के प्रमाण उद्धृत किए गए है।

१३. **क्रम-सन्दर्भ व लघु वैष्णवतोषणी**— इस ग्रन्थ में श्रीमद्भागवत के द्वादश स्कन्धों की क्रमशः व्याख्या उद्धृत है। षट्सन्दर्भान्तर्गत जो व्याख्या गोस्वामिपाद ने की है। उसे क्रमसे इस ग्रन्थमें सुसज्जित किया है। दशमस्कन्ध की टीका का नाम लघु वैष्णवतोषणी है, जो अब वैष्णवतोषणी के नाम से ही प्रसिद्ध है।

१४. **श्रीश्रीराधाकृष्णार्चन-दीपिका**—इस रचना में श्रीराधाकृष्ण की उपासना के विषय में श्रीश्रीराधाकृष्ण-तत्वानभिज्ञ व्यक्तियों के विरोधी वाक्यों का खण्डन करते हुए श्रीगोस्वामिपाद ने श्रीश्रीराधाकृष्ण-उपासना को प्रमाणित एवं प्रतिपादित करते हुए इसकी प्रयोजनीयता का वर्णन किया है।

१५. श्रीब्रह्मसंहिता (पञ्चमाध्याय) टीका। १६. अग्निपुराणस्थ गायत्री-भाष्य। १७. श्रीगोपालतापनी-टीका (श्रीसुखबोधिनी)। १८. श्रीभक्तिरसामृत-टीका (दुर्गमसङ्गमनी)। १९. श्रीउज्ज्वलनीलमणि-टीका (लोचनरोचनी)। २०. पद्मपुराणोक्त श्रीकृष्णपद-चिह्न। २१. श्रीराधिका-कर-पदचिह्न। २२. सूत्र-मालिका। २३. धातुसंग्रह। २४. भावार्थसूचकचम्पू। २५. योगसारस्तव-टीका—इन सब रचनाओं के विषय इनके नाम से ही सूचित हो रहे है।

क्रमशः

श्री श्री गौराङ्ग-गोपिका नृत्य

[गताङ्क से आगे]

—श्रीचैतन्य भागवत

卐

वैष्णव कर श्रद्धा तुही, उदय सकल जग माँहि ।
राखहु जननी शरण में, यहै भक्त सब चाहिं ।।२१।।

माया मँह डूबत संसारा । तुमही सबके राखन हारा ।।
जगत उधारन हित तुम आवहु । दु खित जीव कँह दास बनावहु ।।
ब्रह्मादिक वंदन सब करही । तोहि सुमरत सिद्धी सब लहहीं ।।
दण्ड प्रणाग सबही जन करहीं । पुनि पुनि श्लोक बहुत विधि पढ़हीं ।।
"शरण लीन्ह हम सब तव माता । कृपा करहु तुम सब वर दाता" ।।
यहि विधि सबहिं निवेदन करहीं । हाथ उठाय हरी हरि कहहीं ।।
पतिव्रता गृह भीतर रोवहिं । आनन्द मगन नयन जल वर्षहिं ।।
चन्द्रशेखर गृह आनन्द भारी । भक्तन सव तनु दसा बिसारी ।।
ताही समय निशा अविसानी । आनन्द मगन कोउ नहिं जानी ।।

अरुणोदय लखि सबहिं कोउ, दुःखित भए मन माँहि ।
कीर्तन शेषहि जानिकै, जहँ तहँ सव विलखाहि ।।२२।।

चमकित होइ इत उत सब देखहिं । निशि बीती लखिकै दुःख पावहिं ।।
कोटिन पुत्र वियोग सों भारी । दुःख भयो सब हृदय मझाँरी ।।
क्रोध भरे अरुणोदय देखहिं । प्रभु की कृपा बच्यो सो भागहिं ।।
विरही हृदय प्रेम नित रहही । यह लींला तेहि तें प्रभु करही ।।
प्रेम विरह सब भक्तन रोवहिं । पतिव्रता गण भुइ मँह लोटहिं ।।
शचीमातु के चरनन परहीं । विष्णु-भक्ति क्रंदन सब करहीं ।।
शेखर भवन प्रेम मय भयउ । कृष्ण भक्ति लक्षण सब निर्खेउ ।।
सर्वस धन वैष्णव कर क्रंदन । प्रेम भक्ति कर याही लक्षण ।।
कृष्ण चरित भक्तन सब जानत । प्रेम भरे इमि वचन उचारत ।।

"अरे रात्रि तू किधौं नसानी। कृष्ण प्रेम सों वञ्चित कीनो"॥

दु:खित देखि वैष्णव सकल, कीन्ह कृपा भगवान।
मातृभाव उपजेउ सबै, निरखहिं गौर सुजान॥२३॥

गौर, "वत्स" कहि सबही बोलायो। गोदी लै स्तन पान करायो॥
कमला पारवती नारायनि। गौर प्रकट सब जग की जननि॥
गीता वचन सत्य प्रभु कीन्हेउ। माता पिता पितामह भयउ॥

तथाहि (गीता ९।१७)
"पिताहमस्य जगतो माताधाता पितामहः॥"

भाग्यवान जे भक्तन अहहीं। प्रभु स्तन पान सबहिं जन करहीं॥
दूध पियत सब बिरह मिटायउ। मगन प्रेम रस मँह सब भयउ॥
प्रभु लीला कर अन्त न अहई। आदि अन्त केवल सब कहई॥
महाराज राजेश्वर गोरा। सकल विश्व कर प्रभ चित चोरा॥
नदिया मँह अस उत्सव कीन्ह्यो। सकल विश्व कँह धन कर दीन्ह्यो॥
स्थूल सूक्ष्म जो कछु जग अहई। सब श्री गौर रूप बुध कहई॥
इच्छा मय प्रभु नर तनु धरहीं। सकल विश्व कँह दर्शन देहीं॥

इच्छा सों सृष्टी करहिं, इच्छा सों संहार।
इच्छामय श्री गौर प्रभु, व्यापि रहे संसार॥२४॥

प्रभु इच्छा सब कोउ पालत। इच्छा मय बहु रूपहि धारत॥
प्रभु स्वरूप सब सत्य सुहावा। जीवहिं तारन भेष बनावा॥
यह नहिं समुझि मूढ मति कोउ। प्रभु कँह गोपी कह जन सोउ॥
अद्भुत गोपी नृत्य दिखावा। वेद पुरान तन्त्र सब गावा॥
सुनहिं प्रेम सों जो यह लीला। कृष्ण भक्ति पावत गुणशीला॥
नित्यानन्द बड़ाइ भयउ। लक्ष्मी रूप जबहिं प्रभु धरेउ॥
जब जोई रूप गौर प्रभु धरहीं। तेहि अनुरूप निताई बनहीं॥
गोपी रूप जबहिं प्रभु लीन्हेउ। तबहि निताइ बड़ाई भयउ॥
यहि को समुझि सकै नर सोई। गौर कृपा जेहि ऊपर होई॥
श्री निताई कँह कहु को चीन्है। अल्प भाग्य नहिं कोउ पहिचानै॥

किंवा योगी हैं प्रभू, श्री निताइ गुणखान।
किंवा ज्ञानी, भक्त हैं, सबहिं करत अनुमान॥२५॥

निज निज मत सब कोउ भाषत। गौर निताई हृदय विराजत॥
मोरे हृदय निताइ चरना। रहहु सदा जो भवभय हरना॥
एतेहु पर जो निन्दा करही। लात हनब शिर पर तेहि हमहीं॥
अमृत सम यह कथा सोहाई। मध्य खंड की जानहु भाई॥

जेहि मँह प्रभु धरि लक्ष्मी रूपा। नृत्य कीन्ह हरि परम अनूपा॥
भक्ति सिखावन हित प्रभु नाचेउ। स्तन पियाइ आशा सब पूरेउ॥
श्री आचारज गृह के माँही। अद्भुत तेज लखेउ सब जाहीं॥
सात दिना लगि तेज निरन्तर। चन्द्र सूर्य विद्युत सों दुष्कर॥
पुण्य श्लोक सब दर्शन करहीं। नयन उघारि देखि नहिं सकहीं॥
लोग कहहिं का कारन अहई। देखत ही आखें दोउ फूटई॥

वचन सुनत वैष्णव हंसहि, भेद कहत कछु नाँहि।
प्रभु माया अति से गहन, लखी काहि पै जाहि॥२६॥
अति अचिन्त्य लीला करत, श्री चैतन्य कृपाल।
सर्व शक्ति सों विहरहीं, नदिया मँह गोपाल॥२७॥
सुनहु सुनहु सब भक्तगण, गौर चरित्र महान।
मध्यखंड मँह कीन्ह प्रभु, जँह तँह कृपा निधान॥२८॥
श्री कृष्ण चैतन्य प्रभु, श्री निताइ गुण खान।
वृन्दावन वर्णन अहै, प्रभु लीला उर आन॥२९॥
नागरि भाषा मँह कियो, तेहि कँह भूषणदास।
गौर भक्त के हेतु सोइ, हरि लीला सुखरास॥३०॥

॥ समाप्त ॥

साधन आन प्रेम सम नाहीं।

साँचेहु या की सरि न मिली कहुँ, भुवन चतुर्दस माहीं॥
याकों परसि द्रवत उर अन्तर, वहति ब्रह्म-रस धारा।
होत पुनीत पुण्य जीवन यह, मिलत आनन्द अपारा॥
ज्ञान, जोग, तप, करम, उपासन, साधन सुकृत घनेरे।
भये जाय सब नेह-नगर में, विन दामन के चेरे॥
अन्य सबै साधन मेरे मत, मारग कुटिल कँटीले।
राज-डगर इक प्रेम, चलत जहँ श्याम-सुरूप रंगीले॥

श्री सूरदास

[पूर्वाङ्क से आगे]

डा० श्रीबांकेबिहारी जी
D. Theo,

तृणादपि सुनीचेन तरो रपि सहिष्णुना।
अमानिना मानदेन कीर्त्तनीयः सदा हरिः[1] ।।

कीर्त्तन हो, मधुर हो, प्रेम भक्ति, श्रद्धा व अन्यता से, नाम अपराध से, से बचे, गोपीवत्, सदा ही हो, नाम कीर्त्तन हो, लीला कीर्त्तन तथा गुण कीर्त्तन जो भी हो, यदि सिद्ध संतों के पदों का हो तो विशेष लाभ है। सूरदासजी तो यह कीर्त्तन करते थे—

यशोदा काहे न मंगल गावे।
पूरण ब्रह्म सकल अविनाशी ताकों गोद खिलावे।।
कोटि, कोटि ब्रह्माण्ड को करता मुनिजन जाको ध्यावे।
ना जानूं ये कौन पुण्य ते सो तेरी धेनु चरावे।।
ब्रह्मादिक सनकादिक नारद जप तप ध्यान न आवे।
शेष सहस्र मुख जपत निरंतर हरि को पार न पावे।।
सुन्दर बदन कमल दल लोचन गोधन के संग आवे।
करत आरती मात यशोदा 'सूरदास' बल जावे।।

सूरदासजी उपदेशक न थे। रस आस्वादन में मत्त, दूसरे व्यक्ति को खोज गुरु बनने की और उसके पाप का बोझा ढोने की उन्हें कहाँ फुरसत थी। सो अपने दैन्य व विनय से ही दूसरे को उपदेश कर देते थे—

(१)

सबै दिन गये विषय के हेतु।
तीनों पन ऐसे ही बीते केश भये शिर स्वेत।।

१- तृण से भी अति नीच होकर, वृक्ष से भी अधिक सहन शील होकर, मान वासना रहित होकर, तथा दूसरे को सम्मान देते, श्रीहरि का निरन्तर कीर्त्तन करना चाहिये।

आँखिन, अंध, श्रवण नहीं सुनियत थाके चरण समेत।
गंगा जल तजि पियत कूप जल हरि तजि पूजत प्रेत ॥
रामनाम बिन क्यों छूटोगे चन्द्र ग्रहे ज्यो केत।
सूरदास कछु खर्च न लागत रामनाम सुख लेत ॥

(२)

विनत करत नन्द कर जोरे पूजा हम कह जाने नाथ।
हम हैं दास आस माया के दरस दियो मोहि कियो सनाथ ॥
महा पतित मैं, तुम पावन प्रभु दरसन तुम्हरे पायो तात।
तुमते देव और नहीं दूजा कोटि ब्रह्माण्ड रोम प्रति गात ॥
तुम दाता तुम ही हो मंगता हर्ता कर्ता तुम ही सार।
सूर कहा हम भोग लगावें तुमहीं लै दीयो संसार ॥

(३)

मन रे स्याम सों कर हेतु।
कृष्ण नाम की वार करले, तौ बचे तेरो खेत ॥
मन सुआ तन पींजरा हो तासू बांध्यो तेरो हेत।
काल रूपी मंझार डोले अब घड़ी तो हे लेत ॥
विषय विषय रस छांड़ देरे उतर सायर सेत।
"सूर" श्रीगोपाल भजले गुरु बताये देत ॥

हाँ कभी २ अवश्य कपट भाव से पीड़ित हो किसी व्यक्ति के कल्याण निमित्त कुछ कह देते। उस में एक बणिज की वार्ता प्रसिद्ध है, जिसको "सूर साठी" द्वारा उपदेश कर परम भागवत बना दिया।

ऐसे करुणा-पूर्ण त्यागी संत पाकर भी राजसी वृत्ति से प्रेरे अकबर बादशाह सूरदासजी से आज्ञा कर बैठे कि मेरा यश सुनाओ। सूरदासजी ने तब उनकी लेते गाया:—

नाहिन रह्यो मन में ठौर।
नंद नंदन अछत कैसे अनिये उर और ॥
चलत चितवत द्योस जागत स्वप्न सोवत राति।
हृदय में यह मदन मूरति छिन न इत उत जाति ॥
कहत कथा अनेक ऊधौ, लोक लोभ दिखाय।
कहा करों पित प्रेम पूरण, घट न सिंघु समाय ॥
श्याम गात, सरोज आनन, ललित गति, मृदु हास।
सूर ऐसे दरश को यह मरत लोचन प्यास ॥

बादशाह ने कहा,"सूर ! यह कैसी विचित्र उपमा हैं । तुम्हारे तो लोचन नहीं। फिर बिना देखे कैसे प्यासे मरते हो ।" सूरदासजी ने स्वयं उत्तर न देकर बादशाह के मुसाहिब के मुख से उसके हृदय में स्फुरण कर समाधान करा दिया, "इनके लोचन तो खुदा के पास हैं । सो वहाँ जो देखते है गाते हैं ।" बात व्यर्थ थी । सब प्रसन्न होगये ।

अकबर को इनके प्रति प्रेम था । एकबार जब तानसेन ने इनका बनाया पद गाया—

"है कोउ ब्रज में हितू हमारो चलत गुपालहि राखै"

तब बादशाह और मुसाहिबों के बीच यह चर्चा होने लगी—

अकबरः—इसका क्या अर्थ है ?

तानसेनः—हमारा हितू कौन है जो गोपाल को रोके । जसोदा बार-बार यह कहती है ।

फैजी—जसोदा रो-रो यूँ कहती है ।

बीरवलः—जसोदा द्वार-द्वार फिर यूँ कहती है ।

एक ज्योतिषीः—जसोदा प्रत्येक बार दिन में यह कहती है ।

खानखानाः—जसोदा का रोन-रोम यह कहता है ।

तत्पश्चात् नबाब खान खानां ने समाधान करते कहा । गवैया होने से बार-बार तानसेन गाते हैं और वही अर्थ लगाते हैं फैजी शायर हैं, सदा रोते रहते हैं, सो वह अर्थ लगाया । बीरबल ब्राह्मण होने से घर-घर फिरते है, सो वह अर्थ लगाते हैं । नक्षत्र गिनने के कारण ज्योतिषी ने वह अर्थ लगाया ।

सूरदासजी अपनी गुरु निष्ठा तथा ब्रजधाम निष्ठा में बड़े पक्के थे । स्वयं गानकर गये हैं:—

(१)

श्रीवल्लभ गुरु तत्त्व सुनायो लीला भेद बतायो ।
ता दिन ते हरि लाला गाई एक लक्ष पद बंद ।
ताको सार सूर सार वलि गावत परमानन्द ॥

(२)

माया काल कछू नहीं व्योपे, यह रस रीति जु जानी ।
सूरदास यह सकल सामग्री, गुरु प्रताप पहचानी[1] ॥

१- सूरदासजी के पद—

"अपुन पौ आपुन ही में पायो ।
शब्दहिं शब्द भयो उजियारो, सतगुरु भेद बतायो ॥"

वृन्दावन निष्ठा पर आपकी पंक्तियां:—

"श्याम भुज गहि काढ़ि लीजै "सूर" ब्रज के कूल।
"माया,मोह लोभ, के लीन्है,जानि न वृन्दावन रजधानी।"
"अब तो यही बात मन मानी। छाँड़िये नाहिं स्याम स्यामा कौ,वृन्दावन रजधानी।"

"अब तो यही बात मन मानी।
छांडें नाहिं स्याम स्यामा को वृन्दावन रजधानी।।"
"श्रीगुरु सकल कृपा करी, सूर आस कर वरन्यो रास।

श्रीराधा इतनी करि कृपा।
निसदिन श्याम सेऊँ में तोहि। यहै कृपा करि दीजै मोहि।।
नव निकुंज सुख पुंज मय, हरि बंसी हरि दासी जहाँ।
नित्य विहार आभास हरि करुणा कर राखौ तहाँ।।

अंत समय प्रभुकी आज्ञा से सूरदासजी पारासौली देह त्यागकर नित्य धाम में प्रवेश करने को आये। सो आचार्य प्रभु ने सेवकों से कहा "पुष्टि मार्ग का जहाज जाता है। जिसको जो कुछ लेना हो सो जाओ लेलो।" फिर श्रीनाथ जी की सेवा से उपरान्त हो गिरिराज से उतर श्रीकुम्भनदास, चतुर्भुजदास, गोविन्द स्वामी आदि को संग ले सूरदासजी के दर्शन को श्रीविट्ठलनाथ गुसाईं जी पहुँचे। तब पूछा, "सूरदास कैसे हो ?" आप बोले, "आपकी बाट देख रहा था।" और यह पद गाया:—

देखो देखो हरि जू को एक सुभाय।
अति गंभीर उदार उदधि प्रभु जान शिरोमणि राय।।
राई जितनी सेवा को फल मानत मेरु समान।
समुझि दास अपराध सिंधु सम बन्दौं ऐसो जानि।।
बदन प्रसन्न कमल पद सन्मुख दीखत ही हैं ऐसे।
ऐसे विमुखहु भये कृपाया मुख को जब देखौ तब तैसे।।
भक्त विरह कातर करुणामय डोलत पाछे लागे।
'सूरदास' ऐसे प्रभु को कत दीजै पीठ अभागे।।

को वल्लभाजी के सिद्धान्त अनुसार बिचारना है। लीला जो गान की अर्थात् श्रीमद्‌ भागवत जो प्रभु का स्वरूप है, उनकी शब्दमयी मूर्त्ति हैं उस समाधिस्थ काव्य रचना का प्रत्यक्ष अनुभव कर गान किया। यह सब उनको प्रत्यक्ष गुरु कृपा से हो गई।

यहाँ कबीर के निर्गुण शब्द मार्ग का वर्णन नहीं। ऐसा होता तो कबीर के पद—"भंवर गुफा आदि का" वर्णन होता।

ऐसा दैन्य सूरदास की ही सम्पत्ति है प्रसन्न हो आचार्य देव बोले। तब चतुर्भुजदासजी ने कहा, सूरदासजी ने भगवत यश बहुत गाया पर आचार्य महाप्रभु का यश न वर्णन किया। तब सूरदासजी ने उत्तर दिया, "मैंने तो सब श्रीआचार्य महाप्रभु का ही यश वर्णन किया है। कुछ न्यारा देखूँ तो न्यारा करूँ। पर तेरे सामने कहता हूँ, सुन:—

भरोसो दृढ़ इन चरणन केरो।
श्रीवल्लभ नख चन्द छटा बिनु सब जग मांझि अंधेरो॥
साधन और नहीं या कलि में जासों होत निवेरो।
सूर कहा कहि दुबिधि आँधरो, बिना मोल को चेरो॥

इस पद के बाद ही सूरदासजी को मूर्च्छा आगई। जब चेते तो गुसाईं जी ने पूछा, "सूरदास, चित्त की वृत्ति कहाँ हैं?" आपने उत्तर में यह पद कहा:—

बलि बलि हौं कुवर राधिका नंद सुवन जासों रति मानी।
वे अति चतुर तुम चतुर सिरोमणि प्रीति करी कैसे होत है छानी॥
वे जु धरत तन कनक पीत पट सो तो सब तेरी गति ठानी।
ते पुनि श्याम सहज वे शोभा अंबर मिस अपने उर आनी॥
पुलकित अंग अब ही ह्वै आयो निरख देखि निज देह सियानी।
सूर सुजान सखी के बूझे प्रेम प्रकाश भयो विहसानी॥

यह सुनकर सूरदासजी के नेत्र करुणा रस से परिपूर्ण देख महाप्रभु ने पूछा, "आप की नेत्र वृत्ति इस समय कहाँ है?" आपने उत्तर में यह पद गानकर नित्य लीला में प्रवेश किया[1]:—

खनजन नैन रूप रस माते।
अति से चारु चपल अनियारे पल पिंजरा न समाते॥
चलि २ जात निकट श्रवणन के उलटि पलटि ताटंक फंदाते।
"सूरदास" अंजन गुण अटके न तर अब उड़ जाते॥

1- Religious Poetry of Surdas" by Janardan Misra में लेखक ने सूरदास की गोलोक प्रस्थान की तारीख संवत् १६२० (सन् १५६४) और प्राकट्य की संवत् १५४० (सन् १४८४) दीं है।

श्रीललित-माधव की कादाचित्की लीला

श्रीसत्यव्रत शर्मा 'सुजन' शास्त्री,
एम. ए. (द्वय), बी. एल., साहित्याचार्य

देवाचार्यं यं विदुः सत्कवित्वे, पाराशर्यं तत्त्ववादे महान्तः।
शृङ्गारार्थव्यञ्जने व्याससूनुं, स श्रीरूपः पातु नो भृत्यवर्गान् ॥

श्रीमद्रूपगोस्वामिपाद कवित्व में बृहस्पति, तत्त्व-विचार में व्यास और प्रेम-शृङ्गार की व्यञ्जना में शुकदेव थे। श्रीललितमाधव नाटक उनकी एक अपूर्व कृति है, जिसमें कवित्व, तत्त्व एवं प्रेम—इन तीनों का ऐसा समञ्जस साहचर्य है कि एक साथ ही बृहस्पति, व्यास और शुकदेव की मधुर झांकियाँ मिलती हैं।

इस अद्भुत नाटक पर कुछ लिखने के लिए मैंने लेखनी उठाई, तो 'भरे घर के चोर' की भांति क्या लूँ, क्या न लूं, यही सोचते सोचते रात बीत गई। किन्तु आज प्रकृतिस्थ होकर मैंने लेखनी सँभाली है, यद्यपि अमृत सिन्धु का एक बिन्दु भी इसमें नहीं आ सकता—यह मैं भली भांति जानता हूँ।

श्रीरूपगोस्वामिपाद ने अपनी दिव्य दृष्टि से एक अपूर्वदृष्ट लीला का साक्षात्कार किया था, जिसे 'कादाचित्की लीला' कहते हैं। यह लीला कभी-कभी कदाचित् होती है। इसीलिए 'कादाचित्की'। कम से कम पिछले द्वापर में यह लीला नहीं हुई, किसी दूसरे कल्प में हुई होगी। पिछले द्वापर में जो लीला हुई, वही "प्रायिकी" लीला है—प्रायः हुआ करती है। प्रायिकी लीला में ब्रजलीला की परिसमाप्ति ब्रज में ही हो जाती है और पुरलीला की समाप्ति द्वारिकापुरी में; साथ ही ब्रज और पुर के परिकर भी विभिन्न हैं। कादाचित्की लीला में ऐसी बात नहीं। ब्रजलीला के क्रोड में ही पुरलीला का समावेश है, पुरलीला ब्रजलीला का ही विस्तार है तथा ब्रज एवं पुरके परिकर भिन्न विग्रह होते हुए भी एक तत्वात्मक ही नहीं, योगमाया द्वारा समान-विग्रह के रूप में प्रत्यायित हैं।

सुनते हैं, श्रीरघुनाथदास गोस्वामी "ललितमाधव' में यह कादाचित्की लीला पढ़कर विरहोन्मत्त हो गए थे, कई दिनों तक रो रोकर मूर्च्छित रहे। स्वयं श्रीमहाप्रभु ने श्रीसार्वभौम, श्रीराय रामानन्द तथा श्रीस्वरूप दामोदर के साथ नीलाचलमें लज्जालु श्रीरूपपाद के मुखसे विदग्धमाधव और ललित-माधव के अंश सुनकर रसास्वादन किया था। श्रीचैतन्यचरितामृत अन्त्यलीला प्रथम परिच्छेद में यह प्रसंग सविस्तर वर्णन है। श्रीमहाप्रभु श्लोक सुनकर प्रेमाविष्ट होगए थे और श्रीरूप की शतमुख प्रशंसा की थी। श्रीराय रामानन्द तो नाट्यकला के आचार्य थे,

इनका 'श्रीजगन्नाथ वल्लभ' नाटक भक्तों का हृदयहार है। इन्होंने इन नाटकों के अंश श्रीरूप को खोद खोद कर पूछे थे और विशेषज्ञ की दृष्टि से जाँचकर अन्त में गद्गद् होकर कहा था—

एत शुनि राय कहे प्रभुर चरणे। रूपेर कवित्व प्रशंसि सहस्र वदने ।

कवित्त्व न हय एइ अमृतेर धार। नाटक लक्षण सब सिद्धान्तेर सार ।।

प्रेम परिपाटी एइ अद्भुत वर्णन। शुनि चित्त कर्णेर हय आनन्द-घूर्णन ।।

—श्रीचैतन्यचरितामृत, अन्त्यलीला, प्रथमपरिच्छेद, १३८-१४०

प्रभो ! यह तो कवित्त्व नहीं, अमृत की धारा है। इसमें नाटकों के सारे लक्षण हैं, सभी सिद्धान्तों का सार है, प्रेम-परिपाटी का अद्भुत वर्णन है। सुनकर कान और मन आनन्द से मूर्च्छित हो जाते हैं।

श्रीरूपगोस्वामिपाद पहले व्रजलीला और पुर (द्वारका) लीला-दोनों को मिलाकर एक ही नाटक लिख रहे थे। किन्तु जब वे गौड़देश से नीलाचल की ओर चले, तब उड़ीसा के सत्यभामापुर नामक गाँव में एक रात ठहरे। वहाँ उन्होंने स्वप्न देखा दिव्य नारी सम्मुख प्रकट होकर आज्ञा दे रही है कि मेरा नाटक पृथक् लिखो, मेरी कृपा से तुम्हारा नाटक अपूर्व होगा। वह स्वयं श्रीसत्यभामा का आदेश था।

उड़िया देशे सत्यभामापुर नामे ग्राम। एक रात्रि सेइ ग्रामे करिल विश्राम ।

रात्रे स्वप्न देखे-एक दिव्य रूपा नारी। सम्मुखे आसि आज्ञा दिल बहु कृपा करि ।।

आमार नाटक पृथक् करह रचन। आमार कृपाते नाटक हइबे विलक्षण ।।

स्वप्न देखि रूप करिल विचार। सत्यभामार आज्ञा-पृथक् नाटक करिबार ।।

व्रज-पुर लीला एकत्र करियाछि घटना। दुइ भागे करि एबे करिब रचना ।।

—श्रीचैतन्यचरितामृत ३।१।३५-३९

महाप्रभु सर्वज्ञ थे। श्रीरूप के नीलाचल पहुँचने पर वे अतर्कित बोल उठे—"रूप। श्रीकृष्ण को व्रज के बाहर न ले जाना, वे व्रज छोड़कर कहीं बाहर नहीं जाते।" महाप्रभु का आशय यह था कि श्रीरूप जो नाटक लिख रहे हैं, उसके दो भाग हों। एक में केवल व्रजलीला का वर्णन हो, जो उसी में परिसमाप्त हो जाए; उसमें पुरलीला का समावेश न हो। पुरलीला दूसरे भाग में लिखी जाए। कारण, अप्रकट लीला में श्रीकृष्ण व्रज को छोड़कर अन्यत्र नहीं जाते। यदि एक ही नाटक में व्रजलीला और पुरलीला दोनों का चित्रण हो, तो यह प्रकट लीला का अनुसारी होने पर भी अप्रकट लीला के विरुद्ध होगा।

आर दिन प्रभु रूपे मिलिया बसिला। सर्वत्र शिरोमणि प्रभु कहिते लागिला ।।
कृष्ण के बाहर नाहि करिह व्रज हैते। ब्रज छांड़ि कृष्ण कभु न जाए काहां ते ।।
एत कहि महाप्रभु मध्याह्ने चलिला। रूप गोसाईं मने किछु विस्मय हइला ।।
पृथक नाटक करिते सत्यभामा आज्ञा दिला। जानि पृथक करिते प्रभुर आज्ञा हैला ।।
पूर्वे दुइ नाटकेर छिल एकत्र रचना। दुइ नाटक करि एबे करिया घटना ।।
दुइ नान्दी प्रस्तावना दुइ संघटना। पृथक करिया लेखे करिया भावना ।।

—श्री चैतन्य चरितामृत, ३।१।६०-६५

आगे चलकर 'उज्ज्वलनीलमणि' में श्री रूपपाद ने महाप्रभु का यह सिद्धान्त सुदृढ़ स्थापित कर दिया—

हरे लींला विशेषस्य प्रकट स्यानुसारतः ।
वर्णिता विरहावस्था गोष्ठवाम भ्रुवामसौ ।।
वृन्दारण्ये विहरता सदा रासादिविभ्रमैः ।
हरिणा व्रजदेवीनां विरहोऽस्ति न कर्हिचित् ।।

—उज्ज्वलनीलमणि, संयोगवियोगस्थितप्रकरण, श्लोक १-२

इस पर श्री जीवगोस्वामीपाद की लोचनरोचनी—
"अत्र विशेषप्रकटशब्दयोरूपादानाद् वृन्दारण्ये विहरतेत्पत्राप्रकट लीलाविशेषतया विहरतेति गमितम् ।"

अर्थात् "हरि की प्रकट लीलाविशेष के अनुसार श्री व्रजगोपियों की विरहावस्था का वर्णन किया गया। वृन्दावन में सर्वदा रास आदि क्रीड़ाओं से करते हुए श्रीहरि का श्री व्रजदेवियों से कभी विछोह नहीं होता।"

यहां प्रथम श्लोक में विशेष और 'प्रकट'—शब्दों के प्रयोग से यह ध्वनित होता है कि द्वितीय श्लोक में जो 'वृन्दारण्य-विहार' है, वह अप्रकटलीला विशेष है, जहां श्रीकृष्ण श्रीगोपियों से कभी नहीं बिछुड़ते।

अस्तु, गौड़ीयमत के अनुसार प्रकटलीला में श्रीकृष्ण से श्रीगोपियों का विरह तीन मास रहा, जैसा कि 'लघुभागवतामृत में कहा गया है—

व्रजे प्रकट लीलायांत्रीन् मासान् विरहोऽमुना ।
तत्राप्यजनि विस्फूर्त्ति प्रादुर्भावोपमा हरेः ।।
त्रिमास्याः परतस्तेषां साक्षात् कृष्णेन सङ्गतिः ।।

—लगुभागवतामृत, १।३०४

वैसे, ब्रह्मवैवर्त्तपुराण के अनुसार श्रीदामा के शाप से जनित यह विरह शतवर्षव्यापी था—

गोकुले प्राप्य तं कृष्णं विहृत्य वस कानने।
भविता ते वर्षशतं विच्छेदो हरिणा सह।।
—ब्रह्मवैवर्त्त पुराण, श्री कृष्णजन्म खण्ड, ३।१०५

श्रीकृष्ण—दर्शन के समय पलकों के गिरने से भी जो अधीर होकर पक्ष्मकृत् (पलक बनाने वाले) विधाता को कोसती थीं, उन महाभागा व्रजदेवियों का यह महा विरह लोक-लिप्त प्राणियों के लिये गम्य ही नहीं है। फिर भी व्रज उपासकों के लिये तो यह असह्य क्लेश का कारण था—खास कर इसलिए कि श्रीमद्भागवत में विरह के बाद पुनर्मिलन स्पष्टोक्त नहीं है। ऐसी स्थिति में 'श्रीललितमाधव' नाटक लिखकर श्रीरूप गोस्वामी ने मानो व्रजभूमि को अमृत से सींच दिया, जिससे भक्तगण पुनरुज्जीवित हुए। योगमाया ने ऐसा पटक्षेप किया कि श्रीराधा और सारी गोपियां किसी न किसी विधान से द्वारका पहुँच गईं और उनका विरह काल मधुरता से कट गया।

क्रान्तदर्शी विचक्षण कवि ने ललितमाधव में जिस लीला का चित्रण किया है, उसका क्रमविकास अति विलक्षण है। नगाधिराज हिमालय को अपने जामाता पार्वती-पति श्रीशंकर पर बहुत गर्व था। विन्ध्य पर्वत अपने गोत्र का उत्कर्ष न सह सके। श्रीशंकर से भी श्रेष्ठतर जामाता पाने की प्रतिस्पर्धा से विन्ध्याचल ने कठोर तपस्या की। ब्रह्मा प्रसन्न हुए, वर दिया—तेरे दो कन्याएँ होंगी, जिससे अभीष्ट पूर्णतः सिद्ध होगा।

फलतः विन्ध्य के दो कन्या उत्पन्न हुईं—चन्द्रावली बड़ी, तारा (राधा) छोटी। वस्तुतः ये दोनों गोकुलवासी चन्द्रभानु और वृषभानु गोपों की पत्नियों के गर्भ में थीं। ब्रह्मा की प्रेरणा पर वहां से खींचकर योगमाया ने विन्ध्याचल की पत्नी के गर्भ में डाल दिया। इधर मथुरा में एकानंशा योगमाया की दो भविष्य वाणियों से कंस बहुत उद्विग्न था। एक भविष्यवाणी तो यह थी कि तुम्हारा शिरच्छेद करने वाला आनन्दकन्द पैदा हो चुका है। दूसरी यह कि मुझसे से भी सर्वथा प्रकृष्ट आठ महा शक्तियां शीघ्र ही उत्पन्न होने जा रही हैं, जिनमें दो गुण-गरिष्ठा बहनें होंगी, और इन दोनों का पाणिग्रहण शिव-जयी स्वयं भगवान करेंगे। भय से व्याकुल होकर कंस ने लोकोत्तर बालकों के संहार और बालिकाओं के अपहरण के लिए पूतना को नियुक्त किया। पूतना चन्द्रावली और तारा (राधा) दोनों बहनों को चुराकर ले भागी। इधर विन्ध्याचल के पुरोहित ने राक्षसनाशक मन्त्र का जप शुरू किया। मन्त्र के प्रभाव से घबड़ाई पूतना के हाथ से छूटकर ज्येष्ठा चन्द्रावली विदर्भगा नदी में जा गिरी। कनिष्ठा तारा (राधा) को गोद में लिए पूतना किसी तरह गोकुल पहुंची, किन्तु वहां आते-आते मन्त्रबल से उसके

प्राणपखेरू उड़ गए। सान्दीपनि-माता नारद-शिष्या भगवती पौर्णमासी ने बालिका तारा (राधा) को अंक में ले लिया और उसे श्री वृषभानुगोप की सास एवं यशोदा की धात्री मुखरा को एकान्त में यह कहकर सौंप दिया कि यह बालिका तुम्हारे जामाता वृषभानु की पुत्री है। दुर्वासा मुनि के वर से श्रीराधा श्रीवृषभानु गोप की औरसा कन्या थी और दुर्वासा श्रीवृषभानु और श्रीचन्द्रभानु-दोनों को गर्भ-संकर्षण का रहस्य बता चुके थे, किन्तु अभी राधा और चन्द्रावली की जो स्थिति थी, उससे वे अवगत नहीं थे। उधर नदी की धारा में बहती हुई ज्येष्ठा विन्ध्यकन्या चन्द्रावली को कुण्डिनपुर के राजा भीष्मक ने छीन लिया। इस तरह दोनों बहनें बिछुड़ गईं। आगे चलकर श्रीराधा का माया प्रत्यायित विवाह जटिला के पुत्र अभिमन्यु से हुआ। कुण्डिनपुर में चन्द्रावली जब पांच वर्ष की हुई तब विन्ध्य-वासिनी देवी के निदेश से गोवर्धन और विन्ध्य पर्वतों की कन्दराओं में रहने वाले जाम्बवान् उसे वहां से गुप्तरूप से गोकुल ले आये। वही यहां कराला की नातिन चन्द्रावली है, जो भारूण्डा-पुत्र गोवर्धनमल्ल की माया-प्रत्यायिता पत्नी हुई।

उपर्युक्त अष्ट महाशक्तियों में श्रीराधा और श्रीचन्द्रावली के अतिरिक्त श्रीललिता, विशाखा, पद्मा, भद्रा, शैव्या, और श्यामा हैं। पूतना के क्रोड़ से इनमें ललिता, पद्मा, भद्रा, शैव्या और श्यामा का उद्धार श्रीपौर्णमासी देवी ने ही किया और गोकुल को विभिन्न गोपियों को सौंप दिया। विशाखा यमुना के प्रवाह में बही जा रही थी, इसे राधा की सास जटिला ने पाया। और पाला-पोसा। श्री-ललिता और विशाखा श्रीराधा की तथा पद्मा प्रभृति श्रीचन्द्रावली की सखियां थीं।

श्रीराधिका सूर्य की आराधिका थी। यहां यह भी जान रखना चाहिए कि राधासखी विशाखा वस्तुतः सूर्यकन्या कालिन्दी ही थी—धर्मराज यम की बहन; लीला के लिए विशाखा बनी थी श्रीचन्द्रावली, पद्मा, भद्रा, शैव्या और श्यामा—ये पांचों सखियां तथा इनके साथ सोलह हजार एक सौ गोपकन्याएं—

"कात्यायिनी महामाये महायोगिन्यधीश्वरि।
नन्दगोपसुतं देवि पतिं मे कुरु ते नमः॥"

मन्त्र का जप करती हुई चण्डिका (कात्यायनी) की अर्चना करती थीं। इन आराधनाओं के पीछे श्रीगर्गमुनि का निदेश था।

श्रीराधा का प्रवेश यशोदामैया के घर में हो गया है, क्योंकि दुर्वासा मुनि का वर था कि उसके द्वारा बनाई रसोई जो खाए, वह दीर्घायु होगा। गोपियों का श्रीकृष्ण के प्रति आकर्षण बढ़ता जा रहा है; प्रेमलीला का सूत्रपात हो चुका है। श्रीकृष्ण-सुख के लिए चन्द्रावली क्या नहीं कर सकती? उसका दाक्षिण्य चरमोत्कर्ष को प्राप्त है। उसके प्रति श्रीकृष्ण का प्रेम प्रगाढ़ आदर और गौरव से संसिक्त है।

किन्तु हायरी राधा! श्रीकृष्ण का अन्तरङ्ग सङ्ग पाकर भी तो वह उन्हें नहीं चीन्हती। "कौन है कृष्ण सखि !, जिनका नाम कानों में प्रवेश करते ही मैं उन्मत्त हो जाती हूँ"—ललिता से पूछती है वह।

कः खलु कृष्ण इति श्रूयते, येन केवलं कर्णस्यैवातिथीभवता उन्मत्ती क्रिये।

राधा की माता (उपनन्दपुत्र सुभद्र की वधू, श्रीकृष्ण की भौजी) एवं काननसखी कुन्दलता कहती है—"अरी, यह तो लोकोत्तर वस्तु का स्वभाव है कि सर्वदा भोग करने पर भी अभुक्तपूर्व लगती है, मानो कभी भोगा ही नहीं।"

ललिता प्रेम पारखी है, बोल उठती है—'कुन्दलते ! केवल लोकोत्तर वस्तु का नहीं, बल्कि प्रगट अनुराग का भी तो यही लक्षण है कि लोचन गोचर प्रियतम क्षण-क्षण अपूर्व लगता है।'

और इधर श्रीकृष्ण के हृदय में भी एसी ही तरङ्गें उठती है राधा को देखकर—

"कौन सी चमत्कार विद्या है यह, जो अपनी रसलहरिओं में डुबो देती है मुझे ! अरे, कैसी है यह मुखचन्द्र की कान्ति पीयूषधारा कि बार-बार पीने पर भी प्यास बढ़ती जाती है।"

राधा कुन्दलता से पूछती है—'सखि, जानती हो तुम्हारे देवर (श्रीकृष्ण) कहां रहते हैं, कहां क्रीड़ा करते हैं। उनके तो दर्शन दुर्लभ हैं।'

कुन्दलता मुस्काती है—'अरी लोलुप, रात-दिन तो उनके साथ रहती हो, फिर भी इतनी उत्कंठा !'

राधा तड़प उठती है—'मन्दभागिनी की हँसी क्यों उड़ाती हो सखि ! वे तो बिजली की तरह चमक कर चले गए, चकाचौंध में मेरी आंखें कहां देख सकी उन्हें। धन्य हो तुम लोग कि निर्बाध आंखों के प्याले भर-भर कर आश्चर्यमय अमृतपूर पीती रहती हो।

कुन्दलता कहती है—अमृतसागर में जो निमग्न रहते हैं, उनकी तृष्णा का यही हाल है सखि !

राधा गिड़गिड़ाती है—'दूसरे का दुख क्या जानो तुम। मैं तुम्हारे चरण पकड़ती हूँ, आज जिस पुण्यवती ने वह सांवली चांदनी पी है, कम से कम अपने वाम लोचन की वह कोर तो मेरी ओर करो।'

दिव्यप्रेम के इसी अन्तर्द्वन्द्व के बीच एक दिन सिंहासन पर विराजित राधा को कंसप्रेरित शङ्खचूड़ उठा ले भाग चलता है। कृष्ण शङ्खचूड़ को धर दबोचते हैं और उसके मुकुट का रत्न छीन लेते हैं। इस रत्न में ही उसके प्राण थे, रत्न के साथ-साथ उसके प्राण भी छिन जाते हैं। शङ्खचूड़ के मुकुट का यह रत्न

ही सुप्रथित स्यमन्तकमणि है। श्रीकृष्ण यह मणि अपने भैया श्रीबलराम को भेंट करते हैं और श्रीबलराम राधा को दे देते हैं।

कि सहसा एक दिन नन्द के द्वार पर विपरीतनामा अक्रूर का रथ आ लगा। मथुरा जाने के लिए श्रीकृष्ण रथ पर चढ़ रहे हैं। कानों कान बात फैल गयी है। गोपियों का मर्मन्तुद क्रन्दन बढ़ता जा रहा है; किन्तु प्रेमोन्मादिनी राधा को अभी कुछ भी पता नहीं। विशाखा आदि राधा-सखियां बेहाल हैं—राधा को कह भी नहीं सकतीं और कहे बिन रह भी नहीं सकतीं।

न वक्तुं नावक्तुं पुरगमनवार्त्तां मुरभिदः।
क्षमन्ते राधायै कथमपि विशाखा प्रभृतयः ।। (ललितामाधव, ३।१२)

भगवती पौर्णमासी और वृन्दावन की अधिदेवी वृन्दा—दोनों चिन्ता से व्याकुल हैं—अरे, क्या गति होगी राधा की भला! जो कृष्ण दर्शन में पलकों के गिरने से तड़प उठती थी, प्रियतम के बिना कैसे प्राण रहेंगे उसके।

राधा अपनी प्रेममूर्छा से जग गई है और वस्तुस्थिति को ताड़ चुकी है। हाय, अब तो वह दिव्योन्मादमयी उद्घूर्णा में है, अनेक भाषाओं में जाने क्या-क्या बोल रही है। घोड़े चलने को ही हैं। वह कभी रथ के आगे लोटती हैं, कभी हरि के मुख पर अपनी आंसू भरी आंखें गड़ा देती हैं और कभी बलराम के सामने दांतों में तृण लिए गिर पड़ती हैं।गुरुजनों की लाज कहां?

अरे, यह तो कृष्ण के नयनों नें भी आंसू छलछला आए, मोती की बूंदें टपकने लगी हैं। अरी, मैं तो कुछ ही दिनों में शीघ्र ही आ जाऊंगा। किसी तरह काट लो ये दो-चार भारी रातें भला!

इसी आशापाश में गोपियों के प्राण बँध गए, निकल नहीं पाते। भौंरे मकरन्द नहीं पीते। मोर गुमसुम खड़े हैं। रथ के चलने से लीक में दरारें—अरे नहीं, यह तो धरती का कलेजा टूक-टूक हो गया है।

तो प्रियतम चले ही गए, बेहया प्राण रह गए—पुनर्मिलन की आशा। राधा मुक्तकंठ रो रही है, तड़प रही है, मूर्छित रो रही है,लोट रही हैं दिव्योन्माद में प्रलाप कर रही है। जिसमें यह दशा देखने का साहस हो, वह 'ललितमाधव' का तृतीय अङ्क पढ़ ले। मेरी कलम तो हिम्मत हार गई। पत्थर का गगनचुम्बी गोवर्धन सौ हाथ का बौना हो गया, मानसी गङ्गा सूख गई, तो फिर किसरी बात की जाए।

अब धीरे-धीरे राधा विशाखा के साथ यमुना के खेलातीर्थ में उतर रही है। लो, ये दोनों तो गहरे जल में निमग्न हो गईं और मेघान्तरित सिद्धों की वाणी से जान पड़ता है, क्रमशः सूर्यमण्डल में प्रविष्ट हो गईं। विशाखा वस्तुतः सूर्यकन्या यमुना ही तो थी—लीलावेशधारिणी, सूर्याराधिका राधिका को लेकर अपने पिता के पास जा पहुँची।

इधर ललिता यह दूःसह दृश्य देखकर गोवर्धन के शिखर से कूद पड़ी। चन्द्रावली कराला-चण्डिका के मन्दिर में तड़पती रही।

अब दृश्य बदलता है। योगमाया पर्दा खींचती है। चन्द्रावली गोकुल में है, यह शिशुपाल के मुख से सुनकर भीष्मक-पुत्र रुक्मी उसे कुण्डिनपुर ले गया। चन्द्रावली का पतिम्मन्य गोवर्धनमल्ल ही तोशल था, जिसे मथुरा में श्रीकृष्ण ने मार डाला, इसलिए रुक्मी को रोकने वाला भी कोई नहीं था। पद्मा नग्नजित् की कन्या थी, श्यामा मद्रराज की, भद्रा केकयाधिपति की और शैव्या शैव्य की। श्री नारद से जब इनके पिताओं को मालूम हुआ कि वे गोकुल में हैं, तो श्रीनन्द की अनुमति से उन्हें अपने अपने घर ले गये। कात्यायनीव्रतपरा सोलह हजार एक सौ आठ गोपकन्याओं को भौमासुर हर ले गया। राधा वियोग से खिन्न श्री कृष्ण को इतना ही विदित हुआ कि उनमें एक भी गोपिका गोकुल में नहीं है। राधा-विरह ज्वर के कारण, विशेष जानकारी के अभाव में वे कुछ कर न सके।

श्रीकृष्ण राधा के हाथों विक गये है, इसी से तो वे हैं 'ललितमाधव'। राधा के विरह में उनका हृदय आलोड़ित है, मन विभ्रान्त। भगवती पौर्णमासी उनके मनोविनोदन के लिए नाट्याचार्य भरत से गोकुललीला का एक रूपक तैयार कराया है। देवर्षि नारद ने उने तुम्बुरु को दिया, तुम्बुरु ने गन्धर्वों को सिखाया। आज मथुरा के कुरुविन्द मन्दिर के अलिन्द में उसी का अभिनय देखने के लिए श्रीकृष्ण अपने प्रिय सहचर-विदूषक सान्दीपनि-पुत्र मधुमङ्गल के साथ विराज रहे हैं। श्रीकृष्ण अनुताप से जले जा रहे हैं।—हाय, अक्रूर के रथ पर चढ़ने की चेष्टा करती हुई राधा को परिजनों को रोका, तो उसने कातर भरी दृष्टि मुझ पर डाली और मैंने रुककर सान्त्वना के दो शब्द भी न कहे। कितना क्रूर हूँ मैं।

तभी गन्धर्वों का गोकुललीलाभिनय प्रारम्भ होता है। अपूर्व है नाटक, अद्भुत अभिनय। रङ्गमञ्च पर राधा, माधव, ललितादि सखियां, राधा का पति-मन्य अभिमन्यु और उसकी जननी जटिला—सभी तो हैं। अपनी अनन्यवेद्य अन्तरीणचर्या को मञ्च पर देखकर वे देवर्षि नारद की श्लाघा करते हैं; नारद के के सिवा दूसरा कौन जान सकता है उनके हृदय को। मञ्च पर 'माधव' के रूप में अपने को देखकर रोमाञ्चित हो उठते हैं तथा अभिनेत्री राधा पर दृष्टि पड़ते ही इतने भाव-विह्वल हो जाते हैं कि सिंहासन से उठ खड़े होते हैं और उसे भुजाओं में लेने के लिए आगे बढ़ते हैं। रूपक में हास्य भी कम रोचक नहीं। जटिला अपने पुत्र, अभिमन्यु को श्रीकृष्ण मानकर बिडम्बित करती है और माधव को अभिमन्यु समझकर राधामाधव-मिलन में सहायक होती है—यह प्रसंग श्रीरूप-पाद के वस्तु योजना-नैपुण्य का उज्ज्वल उदाहरण है।

क्रमशः

दर्शनों के समन्वय में अचिन्त्य-भेदाभेद के सिद्धान्त की अनिवार्यता पर शोधपूर्ण विचार—

[पूर्वांक से आगे]

पिछले अंकों में अचित्य भेदा-भेद वाद और अन्य वैष्णव दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन किया गया था।

इस अंक में श्री शंकराचार्य के अद्वैतवाद का तार्किक विश्लेषण कर यह दिखाने की चेष्टा की गई है कि अचित्य भेदा-भेद उसका न्यायसंगत परिणाम है और इस प्रकार दर्शनों के समन्वय में अचित्य-भेदाभेद की अनिवार्यता को पूर्ण रूप से सिद्ध करने की चेष्टा की गई है।

अचिन्त्य भेदाभेद और अद्वैतवाद

—डा० अवधविहारी लाल कपूर
एम० ए, डी० फिल

श्री शंकराचार्य का दार्शनिक सिद्धान्त है—ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या। ब्रह्म सत्य है जगत् मिथ्या है। ब्रह्म अद्वय है। वह स्वजातीय विजातीय और स्वगत भेद रहित है। उसके समान या उससे भिन्न और कोई सत्ता नहीं है। उसके अपने अन्दर भी उसके अंश या गुण के रूप में उसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। वह अपरिच्छिन्न और निर्गुण है। सत् चित और आनन्द उसके गुण नहीं हैं, बल्कि वह सत्-चित-आनन्द स्वरूप ही है। इसलिये शंकराचार्य के मत को अद्वैतवाद या केवला द्वैतवाद कहते हैं।

पर यदि केवल ब्रह्म ही सत्य है, ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, तो जीव ओर जगत् का जो प्रत्यक्ष अनुभव होता है उसका क्या कारण है, और सृष्टि और प्रलय का क्या अर्थ है ? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिये अद्वैतवादी पारमार्थिक और व्यावहारिक दो भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों के सिद्धान्त की रचना करते हैं। पारमार्थिक दृष्टिकोण से जीव की कोई सत्ता नहीं है। पर व्यावहारिक दृष्टिकोण से उसकी सत्ता है। पारमार्थिक दृष्टिकोण से ब्रह्म निर्गुण और निष्क्रिय है। पर व्यावहारिक दृष्टिकोण से वह सगुण और सक्रिय है। सगुण ब्रह्म या ईश्वर की एक अद्भुत रचनात्मक शक्ति है, जिसका नाम है माया। ईश्वर माया के द्वारा जगत् की उसी प्रकार रचना करता है जिस प्रकार एक जादूगर तरह-तरह की चीजें पैदा कर देता है जिनका वास्तविक अस्तित्व कुछ नहीं होता, जो दूसरे लोगों को धोखे में डाल देती हैं, पर जिनका जादूगर पर कोई असर नहीं होता। इस प्रकार जगत् का उपादान कारण है माया। जिस प्रकार रज्जु में सर्प की भ्रांति का कारण है सर्प के अधिष्ठान रज्जु का अज्ञान, इसी प्रकार जगत् का कारण है जगत् के अधिष्ठान ब्रह्म का अज्ञान। जिस प्रकार रज्जु का ज्ञान होते ही सर्प की भ्रांति दूर हो जाती है, उसी प्रकार ब्रह्म-ज्ञान के होते ही जगत् की भ्रान्ति मिट जाती है और जगत् के स्थान पर ब्रह्म की अनुभूति होने लगती है।

माया ईश्वर की इच्छा से नाम-रूपमय जगत् के रूप में प्रकट होती है। माया ही पंच महाभूत और जगत् के विभिन्न पदार्थों का रूप धारण करती है और माया ही भिन्न-भिन्न स्थूल और सूक्ष्म देह और इन्द्रिय आदि के रूप में परिणत हो कर एक ही ब्रह्म की अनेक जीवों के रूप में प्रतीति कराती है। प्रत्येक जागतिक पदार्थ और जीव में जो सत्य है वह है केवल उसका अधिष्ठान, ब्रह्म। ब्रह्म के अतिरिक्त और जो कुछ भी दीखता है, जिसके कारण एक पदार्थ दूसरे पदार्थ से और एक जीव दूसरे जीव से भिन्न जान पड़ता है वह माया का कार्य है।

इसलिये अद्वैतवाद में विवर्तवाद के सिद्धान्त को मान्यता दी गयी है, जो परिणाम वाद से भिन्न है। परिणाम वाद के अनुसार ब्रह्म जगत् का उपादान कारण है, और ब्रह्म ही जगत् रूप में परिणत होता है। विवर्तवाद के अनुसार माया जगत् का उपादान कारण है। जगत् का ब्रह्म में केवल अध्यास होता है जिस प्रकार सर्प का रज्जु में या रजत का शुक्ति में अध्यास होता है। ब्रह्म में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता।

माया सत् नहीं है, क्योंकि अद्वैतवाद के अनुसार केवल ब्रह्म ही सत् है। पर माया असत् भी नहीं है, क्योंकि वह सृष्टि का उपादान कारण है। वास्तव

में वह सत् भी है और असत् भी। वह अनिर्वचनीय है। वह अनादि है पर अनन्त नहीं है, क्योंकि मुक्तावस्था में उसका अन्त हो जाता है।

अद्वैतवाद के अनुसार ब्रह्म और जीव-जगत् के सम्बन्ध का प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि ब्रह्म सत्य है और जीव-जगत् मिथ्या हैं।

आलोचना

श्रीजीव ने अद्वैतवाद की आलोचना इस प्रकार की है—

(१) अद्वैतवाद के सम्बन्ध में मुख्य प्रश्न यह है कि अज्ञान, जिसके कारण ब्रह्म में जगत् का अध्यास होता है उसका आश्रय क्या है ? जीव को अज्ञान का आश्रय नहीं माना जा सकता क्योंकि जीव स्वयं अज्ञान का परिणाम है, अज्ञान से ही उसकी उत्पत्ति और स्थिति है। यदि जीव अज्ञान का आश्रय नहीं है तो ब्रह्म को अज्ञान का आश्रय मानना होगा और देवदत्त के समान व्यक्ति के अज्ञान और उसके कार्यों से ब्रह्म को ही पीड़ित होना होगा। इससे श्रुति के वह सब वाक्य निरर्थक हो जायेंगे जिनमें ब्रह्म को 'अपाप विद्ध' और ज्ञान स्वरूप कहा है।[1]

(२) शंकराचार्य के अनुसार विवर्त होता है अध्यास के कारण। अध्यास क्या है ?—इस प्रश्न का उत्तर देते हुए शंकराचार्य ने कहा हैं 'पूर्व दृष्ट विषय का अवभास जब स्मृतिरूप में चित्त में उदित होता है तो उसे अध्यास कहते हैं,।

शुक्ति में रजत के अध्यास से चार बातें सिद्ध होती हैं:—

(१) रजत का पृथक और वास्तविक अस्तित्व (२) उसका पूर्व अनुभव, (३) वर्तमान में शुक्ति का शुक्लत्व देखकर रजत के शुक्लत्व से उसके सादृश्य के कारण रजत की स्मृति हो आना, और (४) दृश्यमान रजत और स्मर्यमान रजत का अभिन्न जैसा प्रतीत होना। रजत के वास्तविक अस्तित्व और उसके पूर्व अनुभव के बिना किसी प्रकार शुक्ति में रजत का भ्रम संभव नहीं है। इसी प्रकार ब्रह्म में जगत् का भ्रम जगत् के वास्तविक अस्तित्व और उसके पूर्व अनुभव के बिना संभव नहीं है, जैसे दधि में 'आकाश-कुसुम' का, जिसका न कोई अस्तित्व हैं न पूर्व अनुभव, भ्रम संभव नहीं है।[2]

(३) यदि कहा जाय कि ब्रह्म में जगत् के अध्यास के लिए जगत् के वास्तव अस्तित्व की आवश्यकता नहीं है, पूर्व-पूर्व भ्रम परम्पराजात संस्कार ही परस्पर भ्रम का हेतु हैं, तो जीव गोस्वामी का कहना है कि यह सम्भव नहीं है।

---

१. सर्वसम्वादिनी, पृ० १३७
२. वही

एक कारण का आश्रय लेकर जिस कार्य की उत्पत्ति होती है वही कार्य फिर उसी कारण का हेतु नहीं बन सकता। अज्ञान से जगद्बुद्धि और जगद्बुद्धि से अज्ञान की उत्पत्ति मानने से परस्पराश्रय दोष होता है, अज्ञान और जगत् की परम्परा को अनादि मानने से भी परस्पराश्रय-दोष से मुक्ति नहीं मिलती। यह एक अन्य विषय पर शंकराचार्य के अपने ही मत[1] से सिद्ध है[2]।

(४) जगत् यदि अविद्या-जनित भ्रम है तो यह भ्रम सविशेष ब्रह्म में ही संभव सो सकता है निर्विशेष में नहीं। शुक्ति-रजत के दृष्टान्त से यह स्पष्ट है। शुक्ति में रजत का भ्रम इसलिये होता है कि उसमें रजत के समान शुक्लत्व का गुण है। शुक्ति और रजत दोनों सविशेष हैं, शुक्लत्व दोनों की विशेषता है। शुक्लत्व के कारण ही शुक्ति में अन्यथा-ज्ञान रूप अज्ञान की उत्पत्ति (शुक्ति में रजत की भ्रांति) होती है। इस अज्ञान में (शुक्ति में रजत के ज्ञान में) सविशेष रजत का ज्ञान है। इसलिये यह अज्ञान भी सविशेष है। शुक्ति इस सविशेष अज्ञान का विषय बन सकती है, क्योंकि वह स्वयं सविशेष (शुक्लत्व-विशिष्ट) है। इसी प्रकार यदि ब्रह्म में जगत् का भ्रम होता है, अर्थात् ब्रह्म इस अज्ञानसविशेष का विषय बनता है तो उसे भी सविशेष होना चाहिए, उसमें भी कोई ऐसी विशेषता होनी चाहिए जिसके कारण जगत् से उसका सादृश्य हो। निर्विशेष ब्रह्म सविशेष अज्ञान का विषय नहीं बन सकता।

५—विवर्तवादी जगत् को मिथ्या सिद्ध करने के लिए स्वप्न का भी दृष्टान्त देते हैं। स्वप्नावस्था में मनुष्य जो कुछ भी देखता है उसे सत्य मानता है। जगने पर जब उसे नहीं देखता तो जान जाता है कि वह मिथ्या था। इसी प्रकार जगत् सत्य तभी तक मालूम पड़ता है जब तक जीव अज्ञान की नींद सोता रहता है। ज्ञान प्राप्त होते ही जगत् का अस्तित्व उसी प्रकार मिट जाता है जिस प्रकार स्वप्नावस्था की वस्तुओं का जागने के साथ ही लोप हो जाता है।

श्रीजीव गोस्वामी का कहना है कि इस दृष्टान्त से विवर्तवाद का समर्थन नहीं होता, बल्कि यह उसके विपरीत ही बैठता है। स्वप्नदृष्ट वस्तुएं जाग्रत में नहीं दीखतीं, इसलिए उन्हें मिथ्या नहीं कहा जा सकता। जाग्रत की वस्तुएं जिस प्रकार (अज्ञान कल्पित न होकर) ईश्वर की सृष्टि हैं उसी प्रकार स्वप्न की वस्तुएं भी (मनुष्य के मस्तक की उपज न होकर) ईश्वर कृत होती हैं। ईश्वर ही एकमात्र कर्ता है। वह सभी लोगों का एकमात्र आश्रय है। स्वप्न-

---

१. १।१।४ ब्रह्मसूत्र का शंकर-भाष्य देखिये।

२. सर्वसम्वादिनी, पृ० १३७-१३८

लोक भी सत्य संकल्प ईश्वर की सत्यसंकल्प-शक्ति का विलास है। स्वप्नावस्था में ईश्वर प्राणियों के पाप-पुण्य के अनुसार प्रकृत देह के अनुरूप एक दूसरे देह की और भोगोपयोगी विषय-समूह की रचना करता है। 'सन्ध्ये सृष्टिराह हि' और 'निर्मातारं चैके पुत्रादयश्च' (ब्रह्मसूत्र ३।२।१ और ३।२।२) आदि ब्रह्म-सूत्र इसका प्रमाण हैं। इसलिये स्वप्न के दृष्टान्त से भी यही सिद्ध होता है कि जिस प्रकार स्वप्न की वस्तुएं ईश्वरकृत होने के कारण यथार्थ हैं उसी प्रकार जाग्रत अवस्था का जगत् ईश्वरकृत होने के कारण यथार्थ है।[१]

श्रीजीव गोस्वामी ने विवर्तवाद के विरुद्ध और बहुत से तर्कों को नहीं दोहराया है जिनका श्री रामानुजाचार्य आदि ने उल्लेख किया है। उन तर्कों का उद्देश्य भिन्न-भिन्न प्रकार से यही सिद्ध करना है कि स्वयं-प्रकाश, निर्गुण, निर्विकार और अद्वैत ब्रह्म के रहते माया या अविद्या का अस्तित्व किसी रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता, न तो ब्रह्म की शक्ति के रूप में और न ब्रह्म से पृथक एक स्वतन्त्र सत्ता के रूप में। विवर्तवादियों कोअन्त में अपने ही हित में मानना पड़ता है कि वास्तव में माया का कोई अस्तित्व नहीं है, इसका अस्तित्व तभी तक है जब तक जीव का अज्ञान है। मोक्षावस्था के प्राप्त होते ही न माया रहती है न जगत्। माया को मिथ्या मान लेने के बाद उनकी बहुत सी समस्याएं आप ही सुलझ जाती हैं। 'अज्ञान का क्या कारण है ?' 'स्वयं प्रकाश, ज्ञान-स्वरूप ब्रह्म को माया, कैसे ढक लेती है ? 'क्या अन्धकार भी उजाले को ढक सकता है ?'—इस प्रकार के प्रश्नों का उनका सहज उत्तर होता है कि यह प्रश्न ही निरर्थक हैं। इनका कुछ अर्थ होता यदि अज्ञान को वास्तविक सत्ता होती। यह प्रश्न अज्ञान के कारण उठते हैं। अज्ञान का ब्रह्म से कोई सम्बन्ध नहीं है। इसलिये इन प्रश्नों का भी ब्रह्म से कोई सम्बन्ध नहीं है।

पर अज्ञान को मिथ्या मान लेने का अर्थ है जगत् को सत्य मान लेना। इसीलिये पाश्चात्य दार्शनिक ए.ई. टेलर (A. E. Taylor) ने अद्वैतवाद की आलोचना इसे 'भ्रम का भ्रम' (Illusion of Illusion) कहकर की है। 'भ्रम का भ्रम' भ्रम का निषेध करता है। इसका अर्थ है कि जगत् का भ्रम स्वयं एक भ्रम है, अर्थात् जगत् सत्य है।

इस आपत्ति से बचने के लिये अद्वैतवादी कहते हैं कि जब तक अज्ञान है तब तक तो भ्रम है ही। इसलिये भ्रम सत्य भी है, असत्य भी, व्यावहारिक दृष्टिकोण से सत्य और पारमार्थिक दृष्टिकोण से असत्य। पर व्यावहारिक दृष्टिकोण

---

१. वही

१. वही, पृष्ठ १३८-१४१

तो स्वयं असत्य है। असत्य सत्य का आधार कैसे हो सकता है? व्यावहारिक दृष्टिकोण से सत्य या असत्य का कोई अर्थ नहीं है, क्योंकि सत्य दृष्टिकोण निरपेक्ष है, या यूं कहें कि उसका एक ही दृष्टिकोण है और वह पारमार्थिक दृष्टिकोण है।

व्यावहारिक और पारमार्थिक दृष्टिकोण का भेद विवर्तवादियों के लिये ब्रह्म और माया के सम्बन्ध में उठने वाली सभी समस्याओं के हल की एक मात्र कुंजी है। जब भी किसी समस्या का हल करना होता है वे पारमार्थिक दृष्टिकोण की दुहाई देते हुए कहते हैं कि यह समस्या ही कहां है? पर यह उस समस्या को हल करना नहीं, उससे कतराने का एक उपाय है। जो समस्या जहां उठती है उसका समाधान वहां न करके दूसरे क्षेत्र में करना उसका समाधान नहीं है। आग जहां लगी हो पानी वहीं डाला जाता है। अन्यत्र डालने से आग तो बुझती नहीं, आग बुझाने वाला उपहास का विषय बन जाता है। विविध प्रकार के तापों से पीड़ित संसारी जीव को विवर्तवादी का यह कहकर सान्त्वना देना कि तुम्हारा रोग-धोग, मान-अपमान, भूख-प्यास आदि तुम्हारे व्यावहारिक दृष्टिकोण के ही कारण हैं, पारमार्थिक दृष्टिकोण से सब मिथ्या हैं' घर में लगी आग को बुझाने के लिये बाहर जल डालने के समान है।

विवर्तवादी जो ब्रह्म और जगत् के द्वैत की समस्या का हल करते है, पारमार्थिक और व्यावहारिक दृष्टिकोण के सिद्धान्त को अपनाकर और पारमार्थिक दृष्टि से जगत् को मिथ्या बतलाकर उससे द्वैत की समस्या का हल नहीं होता। केवल उसका रूप बदल जाता है। ब्रह्म और जगत् के द्वैत का स्थान पारमार्थिक और व्यावहारिक दृष्टिकोण ले लेते हैं। इसलिये यदि शंकराचार्य के अद्वैत के सिद्धान्त को **द्वैत दृष्टिकोण-विशिष्ट-अद्वैत** कहा जाय तो अनुचित न होगा। यह कहना ठीक न होगा कि व्यावहारिक दृष्टिकोण का सम्बन्ध ब्रह्म से नहीं जीव से है, क्योंकि वास्तव में जीव ब्रह्म ही है। एक ही अद्वैत ब्रह्म में दो परस्पर विरोधी दृष्टिकोण कैसे सम्भव हो सकते हैं—एक अभेद का दूसरा भेद का, यह हमारी बुद्धि में नहीं आता। इसलिये क्या यह कहना उचित न होगा कि शंकराचार्य का अद्वैतवाद भी तर्क-शास्त्र की कसौटी पर एक प्रकार का अचित्य द्वैताद्वैत या अचित्य भेदा-भेद ही हैं?

यदि इसके उत्तर में यह कहा जाय कि दो दृष्टिकोण होते हुए भी ब्रह्म के लिये या ब्रह्म से तादात्मय-प्राप्त जीव के लिये दृष्टिकोण एक ही है और उस

---

१. सर्वसम्वादिनी, पृष्ठ १४०

दृष्टिकोण से न व्यावहारिक दृष्टिकोण की हो कोई सत्ता है न व्यावहारिक जगत् की, न माया की न अविद्या की, तो यह केवल तर्क के लिये तर्क करने का दुराग्रह जैसा ही होगा, क्योंकि इस बात के कितने ही प्रमाण हैं कि अद्वैतवादी तर्क में जो भी कहें, वे द्वैत या भेद का कोई अस्तित्व ही न मानते हों ऐसा नहीं है।

यदि भेद को वे आकाश-कुसुम के समान मिथ्या मानते होते तो ब्रह्म-ज्ञानी गुरु के शिष्य के प्रति उपदेश का कोई अर्थ न होता। गुरु-शिष्य सम्बन्ध ही तब निरर्थक होता। ब्रह्म-ज्ञानी किसको उपदेश करता और क्यों करता ? उपास्य-उपासक भेद का कोई अर्थ न होता, न कोई उपास्य होता न उपासक। श्रुतियां भी भेदात्मक व्यावहारिक जगत् का ही अंश होने के कारण मिथ्या होतीं और उनके प्रमाण की भी कोई सार्थकता न होती [1]। पर अद्वैतवादी गुरु के महत्व, उपासना की आवश्यकता और श्रुतियों के प्रमाण पर उतना ही बल देते हैं जितना द्वैतवादी। इनके विना वे अपने ब्रह्म-ज्ञान के लक्ष्य को प्राप्त करना सम्भव नहीं मानते। श्रुतियों के सहारे तो वे अपने अद्वैतवाद को सिद्ध करते हैं। गुरु-कृपा की भी मोक्ष लाभ करने के लिये वे अपेक्षा रखते हैं। शंकराचार्य ने स्वयं जगत्-गुरु बन जगत् का उद्धार करने की आवश्यकता समझी थी और इस रूप में अपना प्रचार किया था [1]।

शंकराचार्य अज्ञान को भावरूप मानते हैं[2] क्योंकि विना भावरूप अज्ञान के सृष्टि संभव नहीं है। भावरूप अज्ञान का कार्य भो भावरूप ही होना चाहिए। इसलिये व्यावहारिक जगत् को बिलकुल मिथ्या नहीं कहा जा सकता। यदि व्यावहारिक जगत् को बिलकुल मिथ्या नहीं कहा जा सकता तो भेद को भीं बिल-कुल मिथ्या नहीं कहा जा सकता। यदि भेद बिलकुल मिथ्या नहीं है और अभेद सत्य है ही तो भेदाभेद अपने आप ही सिद्ध हो जाता है।

एक और प्रकार से अद्वैतवाद भेदाभेद के रूप में हमारे सामने आता है। व्यावहारिक जगत् के प्रत्येक पदार्थ की अपनी एक विशिष्ट सत्ता है। जहां तक उसकी सत्ता या शुद्ध सत्ता का प्रश्न है वह अद्वैतवाद के अनुसार सत्‌रूप ब्रह्म से अभिन्न है, पर जहां उसकी विशिष्टता का प्रश्न आता है वह ब्रह्म के निर्वि-शेष होने के कारण उससे भिन्न है। यह पहले की कहा जा चुका है कि भिन्नता भावरूप अज्ञान का कार्य होने के कारण विलकुल मिथ्या नहीं है।

माया के स्वरूप पर विचार करने से भी ब्रह्म के साथ उसका भेदाभेद का सम्बन्ध सिद्ध होता है। शंकराचार्य के अनुसार माया न केवल सत् है और न

१. मठानुशासनम्, ।२५।
२. वेदान्त केशरी ।२५।

जिसका न्याय-संगत परिणाम अचित्य-भेदाभेद है, एक महत्वपूर्ण साम्य यह है कि दोनों में से कोई भी सिद्धान्त तर्क पर प्रतिष्ठित नहीं है। दोनों के आधार कुछ मनोवैज्ञानिक तथ्य हैं जिन्हें तर्क शास्त्र की मान्यताओं के विरुद्ध भी हम मानने को बाध्य हैं।

दोनों सिद्धान्तों में इस प्रकार का साम्य होते हुए भी यह नहीं कहा जा सकता कि श्री शंकराचार्य और श्री चैतन्य महाप्रभु का दार्शनिक मत एक है। श्री शंकराचार्य का घोषित सिद्धान्त अद्वैतवाद है जो निश्चय ही अचित्य भेदाभेद वाद से भिन्न है। पर ऊपर की गई आलोचना से यह स्पष्ट है कि शंकराचार्य का घोषित मत एकांगी है। इसीलिये तार्किक विश्लेषण शंकराचार्य को अप्रत्यक्ष रूप से अचित्य-भेदाभेद के सिद्धान्त की ओर प्रेरित करता है।

जय जय जय श्रीशचीकिशोर।

जय जय जय श्रीशचीकिशोर।
बन्दौं बारम्बार ध्यान धरि परम कृपापद साधन मोर।
भव भय सिन्धु अगाध तरन हित कलि में नहीं आसरो और॥
तुव चरनन नखचन्द्र छटा बिनु त्रिभुवन मांझ तिमि तम घोर।
"ललितलड़ैती" बेग बोलिये श्रीवृन्दावन कुंजन ओर॥

१. वृ० भा०, २।२।१६६

क्या शान्त में भक्ति-रस का अन्तर्भाव सम्भव है ?

डा० सुवालाल उपाध्याय 'शुकरत्न'

रस-सिद्धान्त काव्य के अनुपम आनन्द की व्यवस्था-मूलक व्याख्या है। संस्कृत-काव्य शास्त्र के लगभग दो हजार वर्षों के इतिहास में रस-संख्या पर निरन्तर विमर्श चलता रहा है। विभिन्न आचार्यों ने रस के एक, आठ नौ, दस, बारह अथवा असंख्य भेदों की ओर संकेत किया है। यद्यपि नाट्याचार्य भरत की परम्परा का सम्मान करने वाले अनेक परवर्ती दिग्गज आचार्यों ने नौ के आसपास ही रस की संख्या रखने का समर्थन किया है। अन्य सम्भावित रसों का अन्तर्भाव या तो उन्होंने नव रसों में ही करने का प्रयत्न किया है[1] अथवा उनको भाव कोटि में ही रखकर सन्तोष कर लिया है[2]।

आचार्य अभिनव गुप्तपाद ने नाट्यशास्त्र के पाठभेद के आधार पर, भरत के द्वारा 'शान्त' के साथ नौ रसों की मान्यता का प्रबल समर्थन किया है। और इतना ही नहीं, शैव-दर्शन की चेतना के अनुरूप, 'शान्त' को ही स्वतन्त्रतम और मूल रस प्रतिपादित करने के लिए विशेष कष्ट-साध्य परिश्रम करके रस के नौ भेदों को मान्यता प्रदान की है। शान्त के मूल स्वरूप की व्याख्या अत्यन्त विशद रूपमें अभिनव भारती के एक पूरे उपप्रकरण में की गयी है। उन्होंने स्पष्टत: भक्ति के रसत्व का प्रत्याख्यान करके उसे शान्त में ही अन्तर्भूत कर दिया है[3]। उन्होंने स्नेह-रस की पृथक् सत्ता का भी निषेध किया है[4]।

१- (क) एते नवैव रसाः पुरुषार्थोपयोगित्वेन रञ्जनाधिक्येन वा इयतामेवोपदेश्यत्वात्। अभिनव भारती पृष्ठ ६४०।

(ख) प्रीतिभक्त्यादयो भावा मृगयाक्षादयो रसाः।
हर्षोत्साहादिषु स्पष्टमन्तर्भावान्न कीर्तिताः॥ दशरूपक, ४।८३

(ग) रसानां नवत्वगणना च मुनिवचन नियन्त्रिता भज्येत, इति यथाशास्त्रमेव ज्यायः। रसगङ्गाधर, पृष्ठ १७६। (चौखम्बा संस्करण)

२- रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाञ्जितः। भावः प्रोक्तः, काव्यप्रकाश, ४।३५

३- (क) अत एवेश्वर प्रणिधानविषये भक्तिश्रद्धे स्मृतिधृत्युत्साहानुप्रविष्टेभ्योऽन्यथैवाङ्गमिति न तयोः पृथग्रसत्वेन गणनम्। अभिनव भारती, पृ० ६३६।

(ख) एषैव गर्धस्थायिकस्य लौल्यरसस्य प्रत्याख्याने सरणिर्मन्तव्या। हासे वा रतौ वान्यत्र पर्यवसानात्। एवं भक्तावपि वाच्यमिति। वही, पृष्ठ ३४१।

४- अभिनव भारती, पृष्ठ ६४१।

अभिनव गुप्त ने भक्ति तथा अन्य रसों के स्वतन्त्र अस्तित्व के प्रत्याख्यान में, जहाँ अपनी युक्तियों का सहारा लिया है, वहाँ मुनिवचन और विद्वत् परिषद् की मान्यता को भी प्रमाण स्वरूप उद्धृत किया है[1]।

यद्यपि भक्ति-रस की स्वीकृति के सम्बन्ध में अनेक प्रश्न हैं। क्या यह मनुष्य-मन का मौलिक भाव नहीं है ! फिर स्थायी भाव कैसे ? इसको भाव मानने में क्या आपत्ति है ? क्या भक्ति की रस रूप में अनुभूति हो सकती है ? संस्कृत-काव्य-शास्त्र के आचार्यों ने भक्ति-रस को मान्यता क्यों नहीं दी ? साहित्य शास्त्र में सिद्धान्ततः मान्यताप्राप्त विविध दार्शनिक भूमियों पर अधिष्ठित, रस-निष्पत्ति विषयक सिद्धान्तों का वैष्णव-दर्शन एवं भक्ति-रस-निष्पत्ति के साथ कैसे सामंजस्य बिठाया जा सकता है ? उनमें परस्पर साम्य और वैषम्य क्या हैं ? अभिनव गुप्तपाद आदि की मान्यताओं से, वैष्णव-दर्शन की मान्यताएं विविध दृष्टियों से भिन्न हैं, अतः क्या भक्ति-रस-निष्पत्ति में साहित्य शास्त्रीय मान्यताओं को अपने प्रचलित रूप में ही ग्रहण किया जा सकता है ? इसका परम्परागत शान्त और शृङ्गार में अन्तर्भाव क्यों नहीं हो सकता ? इन विविध प्रश्नों में से केवल शान्त में भक्ति-रस के अन्तर्भाव के प्रश्न को लेकर ही प्रस्तुत लेख में विचार किया जा रहा है।

यह विचारणीय है कि यद्यपि शान्त और भक्ति दोनों सुखात्मक प्रकृति के हैं, भगवत्प्राप्ति भी दोनों का उद्देश्य है, विषय-वैराग्य, साधन-सम्पत्ति आदि में भी कुछ-कुछ समानता है, फिर भी भक्ति का अन्तर्भाव, शान्त-रस में क्यों नहीं हो सकता ? संस्कृत काव्यशास्त्र के आचार्यों में सर्वप्रथम विश्वनाथ ने इसका निषेध किया है[2]। यद्यपि उन्होंने इसका कोई प्रमुख कारण नहीं बताया; केवल इतना ही लिख दिया है कि 'दयावीर' 'देवताविषयक रति' आदि में अहङ्कार की मात्रा रहती है, किन्तु शान्त में अहङ्कार का किञ्चिन्मात्र भी सद्भाव नहीं होता। इसलिये उनका शान्त में अन्तर्भाव नहीं हो सकता। उनका यह कथन मनोवैज्ञानिक दृष्टि से ठीक है, क्योंकि भक्त में यह अभिमान तो रहता ही है कि प्रभु मेरे उपास्य हैं और मैं उनका उपासक हूँ तथा अपने प्रभु से कुछ न चाहते हुए भी, भगवत्प्रेम-भावना की पुष्टि से मैं एक अनिर्वचनीय परमानन्द स्वरूप भगवान् का भोग कर रहा हूँ अर्थात् 'भगवान् मेरे भोग्य हैं' इस भावना की भोक्तृत्व वृत्ति तो रहती है जब कि शान्तमार्ग का पथिक भोक्ता-भोग्य की भावना का बाध कर देने में ही अपने को कृतकृत्य मानता है।

१-अभिनव भारती पृष्ठ २४०।

२-निरहङ्काररूपत्वाद् दयावीरादिरेष नो। आदिशब्दाद् धर्मवीरदेवता विषयक-रतिप्रभृतयः। साहित्य-दर्पण, ३।२५० की वृत्ति।

शान्त में भक्ति-रस के अन्तर्भाव का निषेध पण्डितराज जगन्नाथ ने भी किया है। उनका कहना है…'भक्ति-रस' का स्थायीभाव अनुराग है और शान्त-रस का वैराग्य वे दोनों परस्पर विरुद्ध हैं, फलतः विरुद्ध स्थायी भाव वाले रसों का एक दूसरे में अन्तर्भाव नहीं हो सकता[1]। इस पर यदि यह कहा जाय कि 'भक्ति' में अनुराग ईश्वर के प्रति और विराग संसार के प्रति रहता है, अतः आलम्बन भेद होने से दोनों का वैसे विरोध सिद्ध नहीं होता, जैसे रस गङ्गाधर के रचयिता ने परिकल्पित कर लिया है[2]। यह कथन उपयुक्त नहीं, क्योंकि भक्ति-भावना की उत्कटता से भक्त का सम्पूर्ण जीवन भगवदीय रस से भींगा रहता है, उसे वैराग्य के लिए पृथक् से कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता, वह तो अपने आप ही उसके पीछे लगा फिरता है,[3] जब कि शान्त-रस का साधक, प्रयत्न पूर्वक निरन्तर वैराग्य भावना को जगाये रखता है, क्योंकि उस मार्ग के पथिक के लिए, विरागी होना एक आवश्यक शर्त है। उसमें अनुराग की तीव्रता नहीं होती, फलतः प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' नियम के अनुसार वह शान्त-रस ही है, उसका मार्ग पृथक् है, उसमें भक्ति का अन्तर्भाव नहीं हो सकता। कुछ लक्षण देखकर अन्तर्भाव या नाम-करण करना उचित नहीं। शान्त में अनुराग की तीव्रता आ जाने पर उसकी गणना भक्ति-रस के एक प्रभेद 'शान्त-रति' में होने लगेगी।

मधुसूदन सरस्वती का कहना है कि भक्ति-रस के लिए अपेक्षित 'द्रुत-चित्तता' शान्त में नहीं होती, अतः भक्ति-रस से उसकी कोई तुलना नहीं है[4]। शान्त में जिस ज्ञान-वैराग्य की उपस्थिति अनिवार्य मानी जाती है, भक्ति-रस के प्रतिष्ठापक आचार्य रूप गोस्वामीने उनको भक्तिका अंग भी स्वीकार नहीं किया है[5]। उनके अनुसार क्रमशः कठिन तर्क-वितर्क और दुःख बुद्धि से उत्पन्न होने के कारण, चित्त को कठोर बना देने वाले ज्ञान और वैराग्य सुकुमार-स्वभावा भक्ति के अङ्ग नहीं हो सकते। 'मोक्ष' जो शान्त का अन्तिम लक्ष्य है; भक्ति-मार्ग में उसकी स्पृहा

१- न चासौ शान्तरसेऽन्तर्भवितुमर्हति, अनुरागस्य वैराग्यविरुद्धत्वात्। रस-गङ्गाधर पृष्ठ १७४।

२- डा० जगदीश गुप्त, हिन्दी साहित्य कोश, पृष्ठ ५७७, द्वि० सं०।

३- तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः। न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह। वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः। जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं यदहैतुकम्॥ भाग० १।२।७

४- भक्ति रसायन, २।२५-२६।

५- ज्ञानवैराग्ययोर्भक्ति प्रवेशायोपयोगिता। ईषत्प्रथममेवेति नाङ्गत्वमुचित तयोः। यदुभे चित्तकाठिन्यहेतू प्रायः सतां मते। सुकुमारस्वभावेयं भक्तिस्तद्हेतुरीरिता॥ भक्तिरसामृतसिन्धु, पूर्व, २।६७-६८

पिशाची की तरह वर्जनीय है[1]। इस प्रकार मार्ग भिन्नता बताकर रूप गोस्वामी ने शान्त-रस के मूल पर ही प्रहार कर दिया, जिससे शान्त-रस में भक्ति-रस के अन्तर्भाव का प्रश्न ही नहीं बचता।

शान्त में जगत् के सभी सम्बन्ध त्याज्य हैं, उसमें तृष्णा का क्षय परम काम्य है किन्तु भक्ति में जगत के उन सभी सम्बन्धों को वर्जित न करके, उन सभी की ममता की मोटी रस्सी बनाकर प्रभु चरणों में बांधना, संसार के सारे बन्धनों और सम्बन्धों को परमात्मा से जोड़ना है[2]। शान्त का आत्मज्ञान भक्ति में अनिवार्य नहीं, उसका सुख केन्द्र आत्म-विश्रान्ति है, भक्ति का भगवत्प्राप्ति। भक्ति का दैन्य शान्त में नहीं है—

"भक्तानां दैन्यमेवैकं हरितोषणसाधनम्।"

'शान्त' निर्भेद ब्रह्मानुसन्धान करता है, 'भक्त' सद्घन, चिद्घन, प्रेमानन्दैकविग्रह प्रभु का समर्चन। भक्ति-मार्ग सभी के लिए उन्मुक्त है—शास्त्रतः श्रूयते भक्तौ नृमात्रस्याधिकारिता[3]। सुलभ भी है—'धावन्निमील्य वा नेत्रे न पतेद् न स्खलेदिह[4]। ज्ञानमार्ग तलवार की धार पर चलने के समान दुर्गम है—'क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति[5]। अव्यक्त की उपासना अतिकठिन और नीरस है[6] और फिर जिसका आनन्द अव्यक्त है, वह उपासक को आनन्दित भी कैसे करेगा? अव्यक्त में आनन्द का उल्लास कहाँ? ज्ञान-मार्ग में अधिकारी भेद की भी जटिल समस्या है।

भगवान् के त्रिभुवन-रमणीय लोकोत्तर सौन्दर्य और अपरिमेय अनन्त आकर्षण को भावात्मक इन्द्रियों से देख-सुनकर, भक्त के मन में जो उन्मत्त और पागल बना देने वाली उत्कट रसानुभूति आविर्भूत होती है, वह शान्त में सर्वथा असम्भव है। महाप्रभु चैतन्य का जीवन इसका मूर्त्तिमान उदाहरण है। श्रीमद् भागवत में श्रीकृष्ण-सुदामा मिलन के समय भागवतकार ने ब्रह्म-सिद्धि के लिए भी भक्ति-पथ के उत्कृष्टतम होने की घोषणा की है—

न युज्यमानया भक्त्या, भगवत्यखिलात्मनि।
सदृशोऽस्ति शिवः पन्था, योगिनां ब्रह्मसिद्धये ॥(भाग० १०।८०।१८)

१- भुक्ति मुक्ति स्पृहा यावत् पिशाची हृदि वर्तते।
तावद् भक्तिसुखस्यात्र कथमभ्युदयो भवेत् ॥ वही, २।११

२-सबकी ममता ताग बटोरी। मम पद मनहिं बाँधि पग डोरी ॥ (रामचरितमानस)

३-भक्तिरसामृत सिन्धु, पूर्व, २।१६।

४-भागवत ११।२।३५

५- कठोपनिषद्।

६- गीता, १२।५।

शान्त प्राय: स्वकेन्द्रित होता है, इधर भक्त अकेला ही कल्याणी सृष्टि का यात्री नहीं बनना चाहता। वह समस्त समाज को भक्ति-सुरसरित् से आप्लावित करता हुआ आगे ले जाने का प्रयत्न करता है। मानव-चेतना की मूलवृत्ति रागात्मक-भावना की प्रबल प्रेरकता का स्वात्म-विश्रान्त शान्त में नितान्त अभाव ही दिखाई पड़ेगा। मनोविकारों से रहित विरतिपूर्ण शान्त में चित्तवृत्तियों के रमने का अवकाश ही कहां रहता है ?

म० म० गोपीनाथ कविराज के अनुसार साधना-जगत् का एक रहस्य है, 'सिद्धावस्था' में यहाँ एक ऐसी स्थिति आती है, जब कि योगी इच्छा शक्ति की उपेक्षा करके भक्ति की ओर उन्मुख होता है।......उसे उससे किसी भी प्रयोजन-सिद्धि का उद्देश्य नहीं रहता, तथापि वह उसको चाहे बिना रह नहीं सकता[1]। त्रिपुरा-रहस्य[2] तथा बोधसार[3] में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में यही कहा गया है। इस प्रकार अद्वैत की ओर उन्मुख शान्त-रस का साधक पुन: इस सरस भाव की ओर मुड़कर अद्वैत में द्वैत रसानन्द का अनुभव करना चाहता है, इसमें द्वैताद्वैत का यह अनुपम मणि-कांचन संयोग है।

श्रीशङ्कराचार्य के नाम से प्रसिद्ध पद्य में कहा गया है—"हे नाथ ! भेद के दूर हो जाने पर भी मैं तुम्हारा हूँ, तुम मेरे नहीं, तरङ्ग समुद्र की हुआ करती है किन्तु समुद्र तरङ्गों का नहीं[4]।" तुलसीदास भी इसी बात का एक अन्य तर्क द्वारा समर्थन करते हैं......जैसे जल भूमि के बिना, आधार के अभाव में, करोड़ों उपाय करने पर भी किसी तरह ठहर ही नहीं सकता, वैसे ही मोक्षानन्द भी हरि भक्ति को छोड़कर, किसी तरह भी नहीं रह सकता[5]। भागवत में इस विचार के पोषक अनेक उदाहरण मिल सकते हैं[6]। इससे भक्ति-रस की शान्त से उत्कृष्टता सिद्ध होती है, फिर उसका शान्त में अन्तर्भाव कैसे सम्भव है ?

१- कल्याण, उपासना अङ्क, पृष्ठ ६६४।

२- स्वभावस्य स्वरसतो ज्ञात्वापि स्वाद्वयं पदम्। विभेदभावमाहृत्य सेव्यतेऽत्यन्ततत्परैः
त्रिपुरा रहस्य, ज्ञानखण्ड, २०।३४

३- सर्वेश्वरस्तु सुधिया गलितेऽपि भावेन भक्तिसहितेन समर्चनीयः।
प्राणेश्वरश्चतुरया मिलितेऽपिचित्ते, चैलाञ्चलव्यवहितेन निरीक्षणीयः।
भक्त्यर्थं कल्पितं द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरम्। बोधसार

४- सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम्।
सामुद्रो हि तरङ्ग क्वचन समुद्रो न तारङ्गः॥ षट्पदी

५- जिमि थल बिनु जल रहि न सकाई। कोटि भाँति कोउ करै उपाई॥
तथा मोक्ष सुख सुनु खगराई। रहि न जाइ हरि भगति बिहाई॥(रामचरित०)

६- आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थं भूत गुणो हरिः॥ भागवत १।७।१०

दोनों के पथ भी पृथक्-पृथक् हैं। भक्ति-रस लोकोत्तर अनुरागराग-रञ्जित है, भक्ति मृदु, मधुर, सुकुमार स्वभावा है, वैराग्य प्रधान है। भक्ति 'स्वादु-स्वादु पदे पदे' पुलक, रोमाञ्च, अश्रुपात जैसे अतिप्रिय, स्वयं को भी विस्मृत करा देने वाले 'उन्माद वन्नृत्यति लोक बाह्यः' अनुभावों से अनुभवनीय, भगवदेकशरण्य है, शान्त इनसे शून्य 'सोऽहमस्मि' की अखण्ड वृत्ति में अवस्थित, संसार के मिथ्यात्व के दृढ़ निश्चय में लगा हुआ, असङ्ग, निज-सम्बल-परितुष्ट-स्वभाव है। शान्त निस्तरङ्ग महोदधिकल्प समरस है, भक्ति-रस मृदु भावनाओं की असंख्य तरङ्गों से लहराता हुआ अमृत का सागर है। फलतः भक्ति-रस का अन्तर्भाव शान्त में करना उचित प्रतीत नहीं होता। अपने साथ भगवदनुराग के युक्त होने पर, वही 'शान्त-रति' के रूप में भक्ति-रस में अन्तर्निविष्ट है। अन्तःकरण की सविशेष भगवदाकाराकारित स्निग्धा वृत्ति ही भक्ति है और अन्तः करण की द्रवतानपेक्ष महावाक्य जनित निर्विशेष ब्रह्माकाराकारित वृत्ति ही शान्त-रस है। मधुसूदन सरस्वती ने 'ब्रह्म-विद्या' और 'भक्ति' का भेद अनेक अधारों द्वारा स्पष्ट किया है[1]।

सच पूछा जाय तो भक्त 'ब्रह्मानन्द' को प्रेमानन्द का सबसे बड़ा आवरण-मानते हैं, क्योंकि प्रेमानन्द की आधारभूत आकृति और गुण, ब्रह्मानन्द में माया कल्पित कहकर छोड़ दिए जाते हैं, भक्त तो 'करोड़ों ब्रह्मानन्द-चमत्कार के समान भक्ति-रस है' इस कथन को भी लज्जाजनक स्वीकार करते हैं[2]।
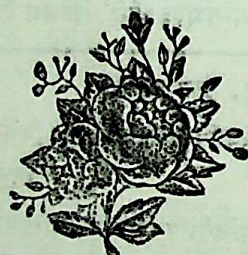
१- भक्ति रसायन (प्रथम उल्लास)

२-(क) कृष्णदास अभिमाने ये आनन्दसिन्धु।
कोटि ब्रह्म सुख नहे तार एक विन्दु ॥ चै० च० आदि, ६।२८

(ख) ब्रह्मानन्द चमत्कारकोटिं जनयते रसः।
ईदृगुक्तिस्तु भक्तानां लज्जां जनयति स्फुटम् ॥
भक्ति-रस-तरङ्गिणी, नारायणभट्ट, पृ० ५७

श्रीहरिनाम संकीर्त्तन मण्डल, श्रीवृन्दावन

के

ग्यारहवें वार्षिक सम्मेलन का

दिग्दर्शन

मण्डल का ग्यारहवाँ वार्षिक सम्मेलन दिनांक १४-३-७३ को प्रातः ८ बजे श्री मन्नित्यानन्द-वंशावतंश गोस्वामी श्रीरसिकानन्द प्रभुपाद के द्वारा मङ्गलघट-स्थापन तथा श्री श्रीधरचन्द्रदास शास्त्री एवं अनेक वैष्णवों द्वारा भुवन-मङ्गल श्रीहरिनाम संकीर्त्तन की पावन ध्वनि से आरम्भ हुआ। प्रथम दिन प्रातः ९ बजे से स्वामी श्रीफतेकृष्णजी की मण्डली द्वारा अद्भुत रासलीला आरम्भ हुई—

श्रीललिता जी द्वारा लाई हुई गेंद से श्रीप्रियाजी ने खेलना आरम्भ किया और श्रीश्यामसुन्दर जी भी खेलने आ पहुंचे। चमत्कृत हो उठा सब दर्शक समाज जब श्रीललिता जी ने श्रीश्यामसुन्दर को खेलने से मना कर दिया। वह अपनी गेंद लेकर अलग जा बैठीं। "कहा कि हम नहीं खेलेंगे"। क्रमशः श्रीविशाखा आदि सब सखियाँ भी श्रीललिता जी के पास आ बैठीं अलग होकर। श्रीराधाजी ने हामी भर ली—"श्यामसुन्दर ! मैं तुम्हारे साथ खेलूंगी।" अब फिर क्या था ? सब सखी एक-एक करके उठकर प्रिया-प्रीतम से आ मिलीं—"हम भी खेलेंगी।" जब श्रीललिता अकेली रह गईं और उठकर आने लगीं तो श्री श्यामसुन्दरजी का दाव लगा—मना कर दिया श्रीललिता को संग खिलाने से। अब तो ललिताजी व्याकुल हो उठीं एवं अनेक अनुनय विनय करने लगीं किन्तु बेसूद। अन्त में ललिता जी बोलीं—"श्यामसुन्दर ! मैं तुम्हें ही खेल में जितवा दूंगी—ऐसा मैं वचन देती हूँ।" इतना सुनते ही अति सुकोमल-हृदया श्रीकिशोरी जी मानकर दूर चली जाती हैं। श्रीललिता जी अब उनको मनाने का भरसक प्रयत्न करती हैं। "तुमने मुझे हराने का वचन दिया है, तुम कुटिल हो, उस कुटिल कृष्ण की पक्षपातिनी हो"—श्रीकिशोरी जी ऐसा कहकर अत्यन्त दुखित हो जाती हैं। अनेक समय निकल जाता है। ललिता जी व्याकुल हैं, क्षमा याचना करती हैं, पान अर्पण करती हैं; परन्तु फेंक देती हैं श्रीकिशोरी जी सब पान एवं जल के भरे पात्र को। मध्याह्न हो जाता है। श्रीकिशोरी जी के राजभोग का समय है। सखीगण

अतिशय अनुनय-विनय करती हैं—परन्तु यहां अखण्डमान तथा क्रोधावेश में तन्मय हैं किशोरी जी "उन्हीं को जाकर भोजन अर्पण करो, उन्हीं को तुम जाकर जिताओ—मुझसे तुम्हरा क्या सम्बन्ध ?"—किशोरीजी कहती हैं। स्वामिनि ! श्यामसुन्दरजी भूखे प्यासे हैं—जब तक आप अन्न-जल न ग्रहण करोगी वे भी भोजन नहीं करेंगे—"ऐसा उन्होंने हाथ जोड़कर कह दिया है"—सब सखियों ने कहा। अनेक बार श्रीश्यामसुन्दर के पास एवं फिर किशोरीजी के पास सखीगण व्याकुल चित्त होकर आती जाती हैं। अन्त में "वहीं बैठे-बैठे सब बातें बना रहे हैं, हाथ जोड़ रहे हैं, यहां सामने वे क्यों नहीं आकर कह देते?"—जब श्रीकिशोरी जी ने इस प्रकार कहा तो सखीजन श्रीश्यामसुन्दर को अतिशय विनय कर स्वामिनि के पास बुला लाती हैं। उनकी लोकोत्तर रूप-सौन्दर्य माधुरी का दर्शन करते ही मान छूट जाता है। श्रीप्रिया-प्रीतम मिलकर भोजन करते हैं एवं शयन भवन में चले जाते हैं।

इसी प्रकार दि० १४ से १७ तक प्रतिदिन प्रातः काल श्री श्रीप्रिया-प्रीतम की विभिन्न रसमयी रास-लीलाओं का विभिन्न मण्डलियों द्वारा आयोजन किया गया।

प्रतिदिन मध्याह्नोत्तर एक विशाल सभा लगती रही जिसमें विभिन्न आचार्यपाद, सन्त विद्वानों ने अपने भक्तिरस पूर्ण सारगर्भित प्रवचनों द्वारा बड़ी संख्या में उपस्थित भक्त समाज को अनुगृहीत किया। प्रमुख-वक्तताओं के प्रवचनों का संक्षिप्त सार यहां उद्धृत किया जाता है—
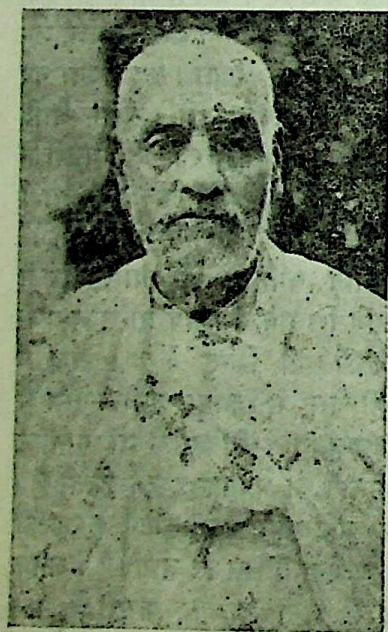
पं० श्रीजगन्नाथ जी भक्तमाली— ने श्रीमद्भागवतीय श्लोक—"कलेर्दोष-निधे राजन्"— की विस्तृत व्याख्या करते हुए बताया कि कलियुग में आलस्य, प्रमाद, राग, द्वेष, हिंसा, निन्दा नास्तिकता, अपवित्रता आदि अनेक दोष हैं। परन्तु इसमें एक महान गुण है—श्रीहरिनाम संकीर्त्तन। इसी महान गुण के कारण ही गुणग्राही एवं सार-वस्तु को ग्रहण करने वाले बुद्धिमान लोग इस कलियुग की प्रशंसा करते हैं, जैसा कि सन्त श्रीतुलसीदास जी ने भी कहा है—

कलियुग सम युग आन नहीं, जो नर कर विश्वास।
गाय राम गुणगण विमल, भव तर विनहिं प्रयास॥

श्रीनाम की महिमा बताते हुए उन्होंने बताया कि जैसे चक्रवर्ती राजा अपने देश की सर्व सम्पत्ति—वैभव को नहीं जानता, वैसे ही भगवान् भी अपने सर्व सम्पत्ति-नामकी महिमा को नहीं जान सकते। नामी से भी नाम की महिमा अत्यधिक है—इस बात को उन्होंने सत्यभामा जी के एक आख्यान द्वारा स्पष्ट किया। जिसमें नारदजी को श्रीकृष्ण के बदले में तोलकर स्वर्णादि देना निश्चय हुआ। श्रीश्यामसुन्दर को तोला गया। समस्त स्वर्ण-मणि माणिक्य अनेक सम्पत्ति तराजू पर चढ़ा दी गयीं, परन्तु श्रीकृष्ण वाला पलड़ा भारी ही रहा। भूमि से जरा भी न उठा। सत्यभामा जी के निराश होने पर श्रीरुक्मिणी जी ने बताया—एक तुलसीपत्र पर ही कृष्ण-नाम लिखकर पलड़े में रख दो और अन्यान्य सब सम्पत्ति उतार लो। ऐसा ही किया गया। श्रीकृष्ण को श्रीकृष्ण-नाम से तोला गया। श्रीकृष्ण वाला पलड़ा ऊँचा उठ गया एवं श्रीकृष्ण नाम वाला पलड़ा नीचे भूमि पर ही रहा आया—इस प्रकार उन्होंने नामी से भी नाम की अधिक महिमा जनाई।
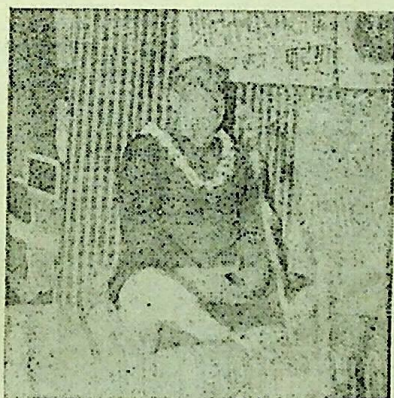
गोस्वामी श्रीरासविहारीजी ने "वृन्दावन के राजा दोऊ श्याम-राधिकारानी" इस पद्यांश की अति मधुर व्याख्या करते हुए प्रतिपादन किया कि ये दोनों ही एकत्र मिलित होकर कलियुग पावनावतार श्री श्री गौराङ्ग सुन्दर के रूप में आविर्भूत हुए है। व्रजलीला में अशेष विशेष रस-निर्यास आस्वादन करने पर श्रीकृष्ण अखण्ड रस-वल्लभा श्रीवृषभानुनन्दिनी के अतुलनीय विशुद्ध महाभावमय प्रेम-सागर की थाह न पा सके और गले में वस्त्र डाल उनके ऋणियां ही बन गए—"न पारयेऽहं निरवद्य"—इसी ऋण को चुकाने के लिए एवं उसी स्वसुखगन्धलेश शून्य परमोज्ज्वल राधाप्रेम का आस्वादन करने के लिए एवं उसे जीव-जगत् को आस्वादन कराने के लिए व्रजेन्द्रनन्दन स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण महाभावस्वरूपा श्रीराधा की भाव-द्युति को ग्रहण कर "प्रतियातु साधुना"—सन्यासी शिरोमणि साधु श्रीकृष्ण चैतन्यदेव रूप से प्रकट हुए हैं। इसी सन्दर्भ में उन्होंने"—छन्नः कलौ यदभवस्त्रियुगोऽथ सत्वम्"—इत्यादि श्रीभागवतीय श्लोक की अति सुन्दर व्याख्या की।
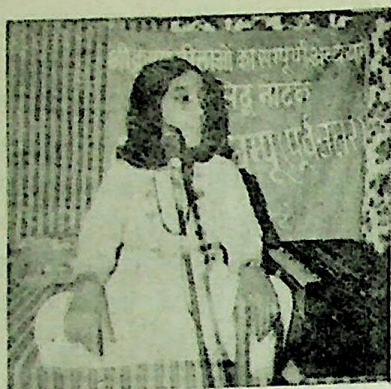
बाल सरस्वती श्रीराधिका, ने जिनकी वयस ग्यारह-बारह वर्ष की है और जो वाराणसी से सम्मेलन में पधारी थीं, **"मुनीन्द्रवृन्द वन्दिते"**— श्रीराधा कृपाकटाक्ष स्तोत्र से अपना मंगलाचरण आरम्भ कर श्रीमन्महाप्रभु श्रीमुखोक्त शिक्षाष्टक के प्रथम श्लोक 'चेतोदर्पण मार्जनं भवमहा दावाग्नि निर्वापणं' आदि की अति मधुर व्याख्या की। श्रीकृष्णनाम संकीर्त्तन को ही कलियुग में एक मात्र जीव-निस्तार का अमोघ एवं परम उपाय बनाते हुए उन्होंने श्रीकृष्ण-प्रेम प्राप्ति को ही जीव का सबसे बड़ा पुरुषार्थ निरूपण किया। श्रीमद्भागवत कथित श्री करभाजन मुनि के वचनों का प्रमाण देते हुए—**"कलेर्दोषनिधे राजन्"** कलियुग में श्रीनाम संकीर्त्तन को ही सर्वाभीष्टप्रद सर्व सिद्धि एवं कृष्ण-प्रेमप्रद घोषित किया तथा इस वचन में प्रमेय तथा प्रमाणगत संशय करने में जीव का अमगल ही बताया।

पं० श्रीगोपालजी व्यास(वाराणसी) ने श्रीरामचरित मानस के आधार पर नाम-महिमा का गान किया। सुन्दर सुमधुर सङ्गीत के माध्यम से **"नाम लेत भवसिन्धु सुखाहिं"**–चौपाई के भावों को प्रकाशित किया। श्रीराम-नाम भव समुद्र से जीव को तार देता है—उन्होंने कह तारने और पार उतारने की बात तो तभी कही जा सकती है, जब भव-समुद्र का अस्तित्व बना रहे। समुद्र को पार करने में तो अनेक भंवर-तरङ्गों के थपेड़ों से डूब जाने की सम्भावना रह जाती है। बड़े-बड़े मगरमच्छ जल-जन्तुओं के द्वारा ग्रसे जाने का भय भी बना रहता है। संसार भी एक समुद्र है जिसमें त्रितापजनक अनेक दुर्वासनाएं इस जीव को डुबाये बहाये ले जा रहीं हैं और काम-क्रोध मोहादि आदि बड़े-बड़े जलजन्तु हैं जो जीव को ग्रसने के लिए मुँह फाड़े हुए हैं। परम करुणामय श्रीराघवेन्द्र का श्रीनाम मन्त्र "राम" ऐसी एक अखण्ड अचिन्त्य शक्ति से सम्पन्न है कि इस मन्त्र से "भवसिन्धु सुखाहिं—भवसमुद्र सूख जाता है। भव समुद्र का प्रश्न ही नहीं रह जाता। जीव परमधाम में श्रीभगवान् की सेवा का ही सौभाग्य प्राप्त कर लेता है।

गोस्वामी श्रीअतुलकृष्ण जी— ने श्री भगवन्नाम की अपूर्व महिमा का वर्णन करते हुए उसकी प्रेम-प्रदायिनी अपूर्व शक्ति का परिचय दिया। उन्होंने कहा "वृषभानुनन्दिनी श्रीकिशोरी जी जब श्रीश्यामसुन्दर का नाम कीर्त्तन एवं श्रवण करती हैं महाभावस्वरूपा होते हुए भी उनमें प्रेम के सात्विक विकारों की बाढ़ आ जाती है, तथा रसिकशेखर श्रीश्यामसुन्दर जब प्रियाजी के दर्शनाभाव में "राधे राधे" कहकर व्याकुल होते हैं, तब वे भी युगपत पुलक अश्रु-कम्पादि अनेक सात्विक भावों से अलंकृत हो उठते हैं।" उन्होंने आगे बताया —" व्रजधाम-वास, व्रजोपासना एवं व्रज-रसास्वादन का एक मात्र मुख्य फल हैं "श्रीराधे-श्रीकृष्ण" नाम में सहज अनुराग। श्रुतियों का प्रतिपाद्य है श्री हरिनाम जीव के जीवन का आधार है श्रीहरिनाम। श्रीभगवन्नाम प्रारब्ध को बदल देता है, सब समस्याओं का समाधान है श्रीहरिनाम। इन्होंने, आगे क्या सुन्दर कहा—
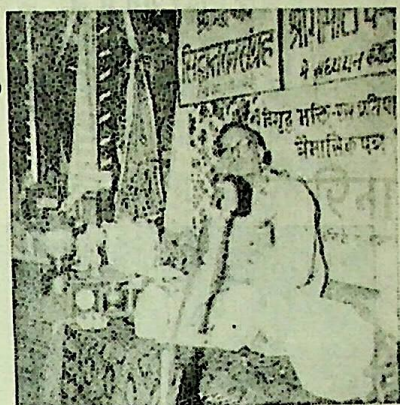
• "जमों पर कोई न रहा, पर वह कब मिटा जिसने तेरा नाम लि ।"

श्रीभगवन्नाम के विमुख जीव ही काल का ग्रास होते हैं, कञ्चन-कामिनी के गुलाम होते हैं। परन्तु नामाश्रित का त्रिभुवन गुलाम होता है। इसके बाद इन्होंने कहा—"नाम के बिना प्रेम नहीं मिलता, और प्रेम के बिना क्षेम असम्भव है।" अन्त में आपने कहा—श्रीहरिनाम को ही जीवन-मरण का आधार बना लो, मन शाश्वत है। नित्य है। नित्य मन, नित्य स्वरूप नाम के बिना स्थिर नहीं हो सकता। अतः मन को निरन्तर श्रीहरिनाम में लगा दो। इसी में ही परम श्रेय की प्राप्ति निश्चित है।

गोस्वामी श्रीविश्वम्भर जी — कलियुग के जीवों की दुर्दशा तथा दुर्बलता का वर्णन करते हुए उनके लिये एक मात्र श्रीहरिनाम को परम औषधि बताया। श्रीमद्भागवतीय श्लोक—"कृते यद्ध्यायतो विष्णु—इत्यादि श्लोक की विशद व्याख्या करते हुए अति सरल एवं सुन्दर शब्दों में बताया कि सत्युग में जो फल श्रीभगवान् के ध्यान से प्राप्त होता था, त्रेतायुग जो में फल

यज्ञादि से और द्वापर युग में जो फल भगवद्दर्चन से प्राप्त होते थे—वे समस्त फल कलियुग में केवल श्रीकृष्णनाम से अनायास प्राप्त होते हैं। देश, काल, अवस्था शुद्धि-अशुद्धि का कुछ भी नियम श्रीभगवन्नामग्रहण में नहीं है। नामाभास से जीव का उद्धार होता है—इस बात को आपने अजामिल के आख्यान से प्रतिपादित किया।

श्रीनित्यानन्द जी भट्ट ने आरम्भ में "कलिं सभाजयन्त्यार्या" आदि श्री भागवतीय श्लोक की सुन्दर व्याख्या की एवं अन्त में उन्होंने बताया श्रीकृष्ण की उपलब्धि मात्र ही साध्य नहीं है। साध्य है कृष्ण-प्रेम। कंस शिशुपालादि ने भी श्रीकृष्ण को अपने अत्यन्त निकट प्राप्त किया। परन्तु उस कृष्ण-प्राप्ति का वे वास्तविक-लाभ न उठा सके। राजा मुचकुन्द के सामने श्रीकृष्ण उपस्थित थे परन्तु अगले जन्म में जाकर ही भजन द्वारा कृष्ण-प्रेम प्राप्त कर वह कृत-कृत्य हो सके। अतः कृष्ण प्रेम ही सम्यक् साध्य है। कृष्ण-प्रेम को ही इसलिए परम पुरुषार्थ माना गया है। कृष्ण-प्रेम की प्राप्ति का एक मात्र साधन है श्रीकृष्ण नाम जो इत्तरराग को विस्मरण करा श्रीकृष्ण स्मृति को जागरित करता है।

प्राच्यदर्शन विद्यापीठ, वृन्दावन के संस्थापक स्वामी श्रीभक्तिहृदय वन महाराज ने कहा—धार्मिक जीवन में परम वस्तु का अनुसन्धान करना परमावश्यक है। श्रुति-स्मृति-भागवत का प्रतिपाद्य-तत्व क्या है ? उस परम वस्तु तत्व का ज्ञान होना आवश्यक है। इन्होंने परमतत्त्व वस्तु का निरूपण करते हुए श्रीकृष्ण को अनादि-आदि, सर्वकारण-कारण स्वयं भगवान् परम उपास्यतत्व बतलाया। स्वयं भगवान, स्वयं-प्रकाश तथा वैभव-प्रकाश आदिक स्वरूपों की गवेषणापूर्ण व्याख्या की। उपासक, उपासना, एवं उपास्य तत्वों के जानने पर उन्होंने अधिक बल दिया और बताया कि जब तक इन तीनों का स्वरूप ज्ञान
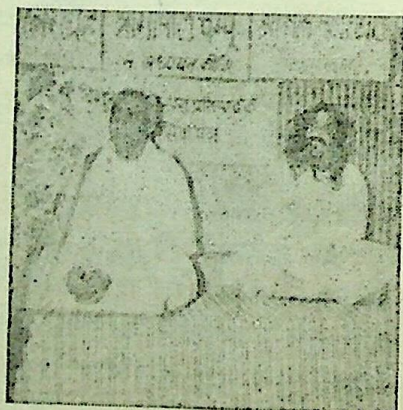
साधक को प्राप्त नहीं होता; तब तक उसकी भजन में—उपासना में दृढ़ निष्ठा नहीं हो सकती। साध्य की प्राप्ति के लिए उन्होंने साधन पर जोर दिया और सब साधनों में श्रीहरिनाम को सर्व साधन श्रेष्ठ निरूपण कर उसका निष्ठा पूर्वक आश्रय ग्रहण करने की प्रेरणा दी।

सन्त शिरोमणि श्रीविरागी जी ने श्रीभगवान् को मन-बुद्धि का विषय न बताकर अनुभववेद्य निरूपण किया। श्रीभगवान् स्वयं प्रकाश, करुणामय, चिन्मय स्वरूप हैं—उसी प्रकार उनका नाम भी स्वयं प्रकाश, करुणामय एवं चित्तस्वरूप है। इस प्रकार नाम-नामी का अभेद प्रतिपादन कर उन्होंने श्रीकृष्ण नाम-गुण लीला-गान करने में ही मनुष्य जीवन को सार्थकता निरूपण की। इसी संदर्भ में इन्होंने—"तव कथामृतं तप्त जीवनं · · · · भूरिदा जना"—श्रीमद्भागवत इस श्लोक की अति सुन्दर व्याख्या की। श्रीकृष्ण-नाम-गुण-लीला की अखण्ड मस्ती का वर्णन करते हुए उन्होंने श्रीवास पण्डित के आङ्गन के उस दृश्य को भी सामने रखा जब श्रीमन्महाप्र भक्तों सहित सङ्कीर्त्तन रसास्वादन कर रहे थे और इधर श्रीवास का इकलौता पुत्र घर में मरा पड़ा था। श्रीवास ने परिवार के लोगों को रोने-चिल्लाने से सर्वथा बन्द कर दिया कि कहीं नाम संकीर्त्तन में बाधा न पड़ जाय। अन्त में उन्होंने कहा—जीव में रागात्मिका वृत्ति स्वाभाविक है, उसे श्रीराधागोविन्द चरणारविन्द में जोड़ देने में ही जीव का कल्याण हैं और श्री गोविन्द-चरणारविन्द के साथ सम्बन्ध जोड़ने का एक मात्र उपाय है—उनका नाम।

गोस्वामी श्रीबालकराम जी—ने कहा कि श्रीभगवान् सबके हृदय में विराजमान हैं, परन्तु उनका प्रेम हृदय में न होने से जीव उनके दर्शन या उनकी प्राप्ति से अनादिकाल से वंचित हो रहा है। श्रीभगवान् के दर्शनों के लिए प्रेम की की अनिवार्यता है। श्रीभगवन्नाम का यह स्वाभाविक धर्म है कि उसके स्मरण से हृदय में प्रेम का आविर्भाव होता है। इसके सन्दर्भ में उन्होंने गो० श्रीतुलसीदास जी की उक्ति—

"सुमरिये नाम रूप बिनु देखे। आवत हृदय स्नेह विशेषे॥

की विस्तृत व्याख्या की।

स्वामी श्रीभक्तिदीपक जी—ने श्रीभगवान् के नाम लीला-गुण, कथामृत, के पान को मनुष्य का परम साधन निरूपण करते हुए श्रीमद्भागवतीय श्लोक—"तव कथामृतं तप्तजीवनं" आदि की विस्तृत व्याख्या की, उन्होंने बताया भगवद् कथा श्रवण से ही श्रीभगवन्नाम में रुचि तथा अनुराग एवं श्रीनाम की अखण्ड महिमा का ज्ञान मनुष्य को होता है। इसीलिए नव-विधा भक्ति में कीर्तन से पहले श्रवण को स्थान दिया गया है। कथा-श्रवण का फल है श्रीनाम संकीर्त्तन

एवं नाम संकीर्तन का मुख्य फल है कृष्ण-प्रेम। कृष्ण-प्रेम का मुख्य फल है कृष्ण चरण सेवा प्राप्ति। और यही जीव का एकमात्र स्वरूपानुबन्धि धर्म एवं कर्त्तव्य है। उन्होंने आगे बताया कि श्रीमन्महाप्रभु श्रीकृष्ण चैतन्यदेव ने इसलिए श्रीनाम-संकीर्त्तन को परम उपाय कहकर वर्णन किया है। उन्होंने नाम-ग्रहण करने में निरपराध होकर आचरण करने की प्रेरणा देते हुए "तृणादपि सुनीचेन"—श्लोक की व्याख्या की। अन्त में श्रीनाम के अद्भुत महिमा वर्णनात्मक "तुण्डे ताण्डविनी रति वितनुते" श्लोक की व्याख्या के साथ उन्होंने अपना वक्तव्य समाप्त किया।
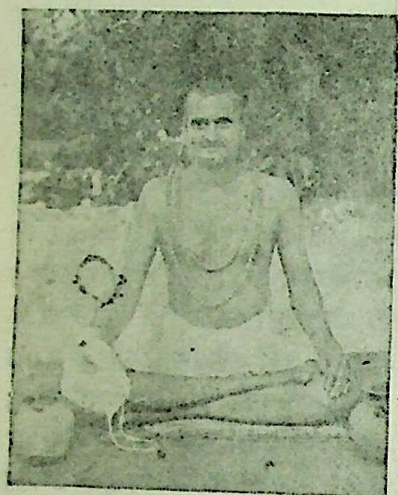
बाबा श्रीकिशोरीदास जी महाराज ने श्री श्री राधा-कृष्ण युगल सरकार के दिव्यातिदिव्य गुणों का वर्णन करते हुए श्रीराधा भावाविष्ट श्री मन्महाप्रभु की गम्भीरा लीला की ओर श्रोताओं के चित्त को आकर्षित किया और उसी भावाविष्ट-अवस्था में श्री मन्महाप्रभु के मुखनिसृत शिक्षाष्टक के प्रथम दो श्लोकों--"चेतोदर्पण मार्जनम्" तथा "नाम्नामकारी बहुधा"–की अति रसमय व्याख्या की। इसके बाद उन्होंने कृष्ण-भक्ति में जीवमात्र का अधिकार बताते हुए भक्त श्री रैदास चमार के उस चरितांश को सुनाया जिसमें उनके द्वारा समर्पित सुपारी को श्री गंगाजी ने साक्षात होकर ग्रहण किया था और अपने हाथ की दिव्य रत्नजड़ित चूड़ी ब्राह्मण के हाथ उन्हें भेजी थी। इस प्रकार शुद्ध सत्व चित्तता की भजन में अनिवार्यता दिखाते हुए उन्होंने तृणादपि सुनीच होकर श्रीभगवन्नाम ग्रहण करने की शिक्षा दी।

संकीर्तन सम्राट स्वामी श्री मुकुन्दहरि जी ने इस अवसर पर पधारकर अपने मधुरतम श्रीकृष्ण-लीला-गुण-गान से एक आनन्दरस का सागर उद्वेलित कर दिया। समस्त पिण्डाल उस समय आनन्द विभोर हो उठा। निरन्तर एक घण्टा तक उन्होंने आत्म विस्मृत होकर नाम सङ्कीर्त्तन का एक आदर्श स्थापित किया। श्रीतिलकराजजी शर्मा प्रधानमन्त्री श्रीहरिनाम सङ्कीर्त्तन महामण्डल कपूर थला का सहयोग सराहनीय रहा।

दिनांक १५-३-७३ प्रातः ७ बजे से ९ बजे पर्यन्त स्थानीय गोविन्दकुण्ड की गौड़ीय वैष्णव मण्डली द्वारा बंगला में जो "स्वप्नविलास-लीला का गान हुआ, वह अति सरस सुमधुर एवं अद्भुत था। बंगला गान होते हुए भी

हिन्दीभाषी समाज समानरूप से उसके रसास्वादन में सम्मिलित रहा। ऐसा सुअवसर मण्डल को महान्त श्रीरामानन्द दास जी की कृपा से ही प्राप्त हुआ।

गोस्वामी श्री नृसिंहबल्लभ जी ने सर्व प्रथम मानव शरीर की श्रेष्ठता एवं सार्थकता पर सबका ध्यान आकर्षित किया। उन्होंने विस्तार पूर्वक इस बात को प्रतिपादित किया कि मानव देह शक्ति, आकार, भोग, आहार इत्यादि किसी भी दृष्टिकोण से श्रेष्ठ नहीं है। परन्तु फिर भी इसे सब देहों से श्रेष्ठ माना गया है। केवल इसलिए कि इसमें भगवत् प्राप्ति की योग्यता है। भगवत्-प्राप्ति के लक्ष्य को लेकर ही इसका सबने श्रेष्ठत्व प्रतिपादित किया है।
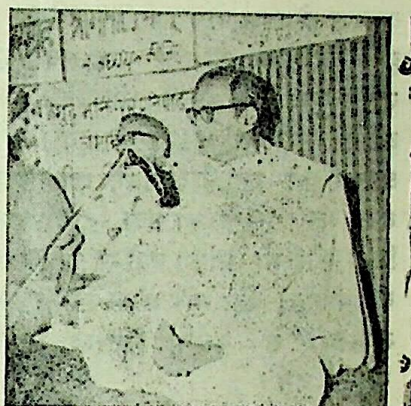
भगवत् प्राप्ति के अनेक साधन शास्त्र ने वर्णन किये हैं। जिनमें योग ज्ञान एवं भक्ति, ये तीन ही मार्ग प्रधान हैं। इन तीनों साधनों में भी पूर्णतम भगवत्-प्राप्ति केवल भक्ति के द्वारा ही उपलब्ध हो सकती है। ज्ञान मार्ग में आने वालों से प्रश्न होता है। "तुम में कहां तक वैराग्य एवं तृष्णा-निवृत्ति है। योग पूछता है—"तुम्हारे मन, इन्द्रिय संयमित हैं कि नहीं ? किन्तु भक्ति पथ में आने वालों के लिए पूर्व उपस्थिति का कोई प्रश्न नहीं है। उसमें भी पांच कर्म एवं पांच ज्ञान-इन्द्रियों में किसी एक इन्द्रिय के भी स्वस्थ होने पर भक्ति का आचरण किया जा सकता है। परन्तु योग तथा ज्ञान में यह सुविधा नहीं है। आगे उन्होंने कहा, योग एवं ज्ञान स्वतन्त्र रूप से अपने अपने फल प्रदान करने में भी समर्थ नहीं हैं। ये दोनों भक्ति का मुँह तकते रहते हैं।

आचार्यपाद ने फिर बताया—"भक्ति के समस्त अङ्गों पर श्रीभगवन्नाम की व्याप्ति है। सर्व अङ्गों में श्रेष्ठतम है श्रीनामसङ्कीर्त्तन ! अन्यान्य साधन भगवान् के प्रापक हैं—प्राप्त कराने वाले हैं, परन्तु नाम स्वयं भगवत् स्वरूप है। क्योंकि नाम नामी से सर्वथा अभिन्न है—सर्व वेदशास्त्रों का यही अटल सिद्धान्त है।

उन्होंने फिर बताया कि—"शास्त्र में विधि-मुख एवं निषेध-मुख दोनों प्रकार का उपदेश मिलता है। अतः श्रीभगवन्नाम-अनुष्ठान में भी विधि-मुख तथा निषेध-मुख दोनों प्रकार के आदेशों का पालन करना नितान्त आवश्यक है। "तृणादपि सुनीचेन कीर्त्तनीयः सदा हरिः।" यह विधिमुख उपदेश है और नामा-

पराध रहित होकर नाम-ग्रहण करना आदि निषेध-मुख उपदेश है। अतः तृणादपि सुनीच होकर जहां नाम-ग्रहण करना विधेय है, वहां अपराध तथा अहंकार से बचकर ही नाम ग्रहण करना चाहिये। गोस्वामिचरण ने स्पष्ट बताया कि अहंकार ही भक्ति साधन का एक मात्र सबसे बड़ा शत्रु है। "मैं"—उत्तम पुरुष मत बनो। उत्तम पुरुष तो केवल श्रीगोविन्द ही हैं। उन्होंने बताया—"साधक को हर क्षण आत्म निरीक्षण करना चाहिये। साधन करते हुए वह साध्य की ओर कितना अग्रसर हो रहा है। साधन का कुछ फल भी प्राप्त हो रहा है कि नहीं?—इस बात पर साधक को सदा ध्यान रखना चाहिये। अहंकार एवं अपराधों को छोड़े बिना कोई भी साधन क्यों न हो वह उसी प्रकार निरर्थक है जैसे फूटे घड़े में पानी का भरना। अतः साधक को अपनी धर्म-साधना में पूरी सावधानी रखनी चाहिये। अपराधों से बचना नितान्त आवश्यक है। आत्म विश्लेषणता का ही नाम है धर्म।

श्रीआचार्यपाद ने सम्मेलन के अन्तिम दिवस अपने अध्यक्षीय भाषण में इस बात को स्पष्ट किया कि समस्त शास्त्रों में श्रीभगवन्नाम की महिमा-अनादिकाल से नित्य विराजमान रहते हुए भी कलियुग पावनावतार श्रीश्रीकृष्ण-चैतन्यदेव महाप्रभु ने ही सर्वप्रथम इसे क्रियात्मकरूप में प्रकाशित एवं प्रचलित किया। इनके आविर्भाव से पूर्व किसी वैष्णावचार्य बल्कि किसी भी भगवदवतार ने इस परमतम रहस्य को क्रियात्मकरूप में नहीं अपनाया। इस तथ्य का इतिहास साक्षी है एवं इसमें दूसरा मत नहीं है। यहां तक कि पद्मपुराण वर्णित दस नामापराधों की ओर भी श्रीमन्महाप्रभु ने साधक जगत् का ध्यान सर्वप्रथम आकर्षित किया। श्रीमन्महाप्रभु ने ही मोक्ष को परम पुरुषार्थ रूप में स्वीकार न कर कृष्ण-प्रेम को ही परमपुरुषार्थ पद पर स्थापित किया है।

उन्होंने बताया कि प्रेम के बिना कृष्ण-माधुर्य, जो भगवत्ता का सार है, उसकी प्राप्ति कदाचित नहीं हो सकती। माधुर्य प्राप्ति के बिना श्रीकृष्ण की पूर्ण प्राप्ति नहीं मानी जा सकती। सेवा से ही रसरूपता का आस्वादन प्राप्त होता है और सेवा का प्राण है प्रेम। अतः प्रेम के बिना श्रीकृष्ण के रसमय स्वरूप का अनुभव होना असम्भव है। इस प्रेम-भक्ति की प्राप्ति होती है साधन-भक्ति से। साधन भक्ति में मुख्यतम अङ्ग है श्रीनामसङ्कीर्त्तन। अन्य साधन भगवान् को दे सकते हैं परन्तु प्रेम को नहीं। प्रेम दे सकता है केवल श्रीभगवन्नाम-सङ्कीर्त्तन।

अन्त में उन्होंने श्रीहरिनामसङ्कीर्त्तन मण्डल के पावन उद्देश्यों का संक्षेप में वर्णन करते हुए बताया कि श्रीमन्महाप्रभु द्वारा प्रवर्तित विशुद्ध प्रेमा-भक्ति के सिद्धान्तों का प्रचार-प्रसार करना तथा उनका आचरण कर मानव-जीवन को ऊंचा उठाकर उसकी सार्थकता सम्पादन करना या भगवद्-भक्ति उपलब्ध करना ही इस मण्डल का मुख्य उद्देश्य है।

ग्यारहवां वार्षिक सम्मेलन—

राज ज्ञान-लीला